वसन्त में प्रसन्न हुई पृथ्वी

केदारनाथ अग्रवाल

सम्पादक : अशोक त्रिपाठी

वसन्त में प्रसन्न हुई पृथ्वी

(केदारनाथ अग्रवाल की कविताएँ)

सम्पादक

डॉ० अशोक त्रिपाठी

साहित्य भंडार

इलाहाबाद 211 003

I S B N : 978-81-7779-189-3

❁

प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3

दूरभाष : 2400787, 2402072

❁

लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

❁

स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल

❁

संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009

❁

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

❁

अक्षर-संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2

❁

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद-3

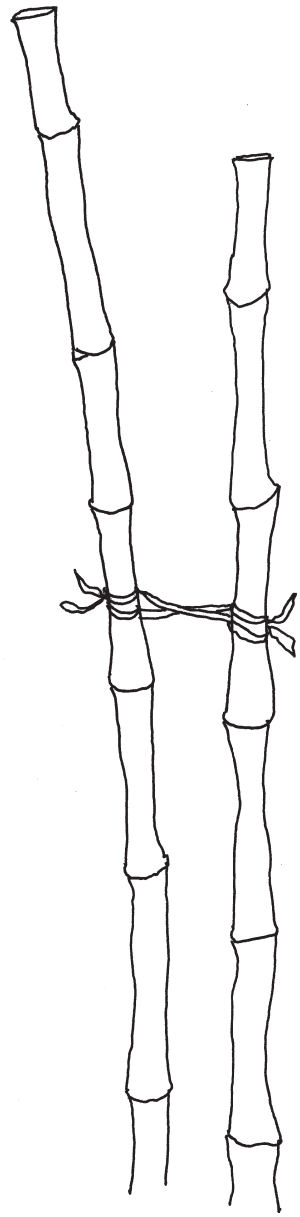

मूल्य : 250.00 रुपये मात्र

वसन्त में
प्रसन्न हुई पृथ्वी

प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल
विभोर अग्रवाल
2009

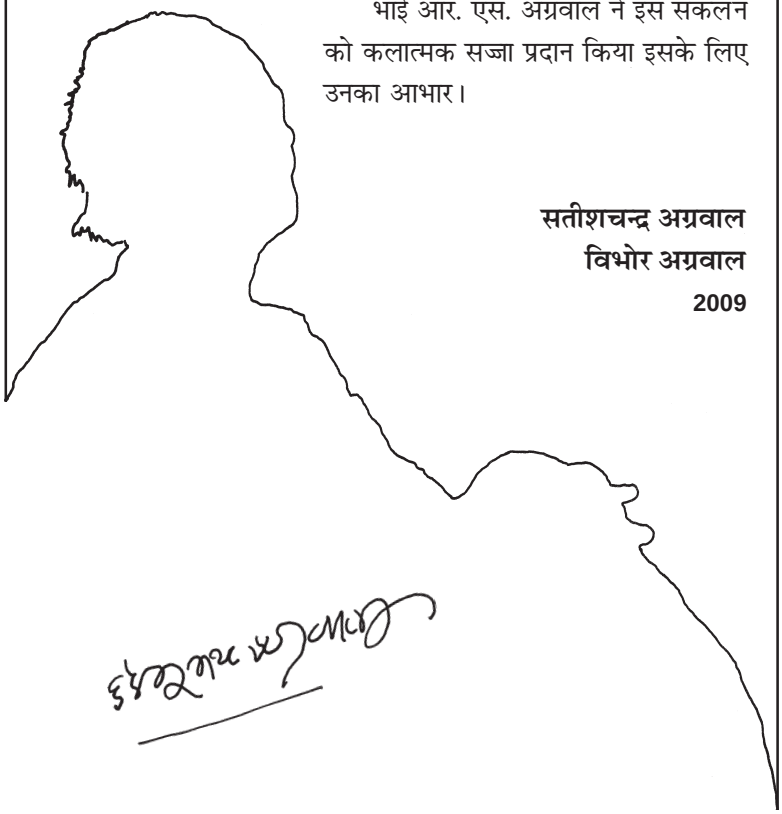

त्वदीयं वस्तु केदारं

त्वभ्यमेव समर्पयेत्

सम्पादकीय[1]

'वसंत में प्रसन्न हुई पृथ्वी' प्रकाशन क्रम में केदारजी का उन्नीसवाँ काव्य-संग्रह है। इस संग्रह में सन् 1939 से लेकर सन् 1960 तक की वे कविताएँ संकलित हैं, जो इसके पहले प्रकाशित संग्रहों में शायद नहीं हैं। शायद इसलिए कि, इस संग्रह की सारी कविताएँ तो संग्रह तैयार करने के पूर्व दो-तीन बार पढ़ ही चुका था, इसके पूर्व के संग्रहों की कविताएँ भी पढ़ चुका हूँ। ऐसे में, इस संग्रह को तैयार करते समय, यह तय कर पाना, बड़ा कठिन रहा है कि जो कविता इस संग्रह में संग्रहीत कर रहा हूँ, उसे किसी पूर्व प्रकाशित संग्रह में पढ़ चुका हूँ या फिर पुरानी कविताओं के संकलन के दौरान! वैसे पूरी सावधानी बरतने की कोशिश की गई है और इस संग्रह की कविताओं को पूर्व प्रकाशित संग्रहों से मिलाया भी गया है, फिर भी यह दावा नहीं है कि इसमें किंचित् भी दुहराव नहीं होगा।

प्रस्तुत संग्रह के अलावा मेरे द्वारा संपादित केदारजी की कविताओं के तीन कविता-संग्रह-'कहें केदार खरी-खरी' (1983), 'जमुन जल तुम' (1984), और 'जो शिलाएँ तोड़ते हैं' (1986) प्रकाशित हो चुके हैं। पहले दोनों संग्रहों की कविताओं का चयन विषयवस्तु के आधार पर और क्रम का निर्धारण काल के आधार पर किया गया है। तीसरे संकलन की कविताओं के चयन और क्रम दोनों का आधार काल है।

'वसंत में प्रसन्न हुई पृथ्वी' की कविताओं के चयन और क्रम का आधार भी काल ही है। इस लिहाज से देखा जाए तो इस संग्रह की कुछ कविताओं को 'जो शिलाएँ तोड़ते है' (1986 में प्रकाशित सन् 1931 से सन् 1948 तक की कविताओं का संकलन) और 'जमुन जल तुम' (1984 में प्रकाशित सन् 1932से 1976 तक की प्रेम कविताओं का संकलन) तथा 'कहें केदार खरी-खरी' (1983 में प्रकाशित राजनीतिक कविताओं का संकलन) में ही संगृहीत हो जाना चाहिए था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। क्योंकि उपर्युक्त उल्लिखित संकलनों में वही कविताएँ संकलित की गई हैं, जो फाइनल स्थिति में थीं या

---

1 यह संपादकीय परिमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित संस्करण के लिए लिखा गया था।

लगभग फाइनल थीं। जबकि प्रस्तुत संकलन की अधिसंख्य कविताएँ केदारजी के द्वारा फाइनल की हुई स्थिति में उपलब्ध नहीं होतीं। कुछ कविताओं के तो एक से अधिक प्रारूप मिलते हैं। प्रमाण के लिए ऐसी कुछ कविताएँ पाद टिप्पणी के साथ संग्रह में दी भी गई हैं। इसलिए 'वसन्त में प्रसन्न हुई पृथ्वी' की कुछ कविताओं में शिल्प की अनगढ़ता, प्रवाह का कमी, कसाव का अभाव और कहीं-कहीं अधूरापन या भाषाई दोष लक्षित हों तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

एकाध कविताओं के एकाध शब्द बार-बार कोशिश करने के बाद भी समझ में नहीं आए। एकाध शब्द तो स्पष्ट से लगने के बाद भी कविता में अपने अर्थ की संगति नहीं दे पाए- ऐसी स्थितियों के समाधान के लिए उस कविता की फोटो प्रति, केदारजी को भेजी, पर संग्रह छपने तक कोई उत्तर नहीं आने पर उसे ज्यों-का-त्यों जाने दिया गया है। इससे सहृदय पाठकों को जो असुविधा होगी, उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

इस संग्रह की कुछ कविताओं से पाठक निश्चय ही वंचित रह जाते, यदि आदरणीय डॉ० रामविलास शर्मा बड़े यत्न से सहेजकर उन पत्रों को 'सम्मान : केदार' (1986) के अवसर पर बाँदा न लाए होते, जिनमें ये कविताएँ केदारजी ने रामविलासजी को लिखी थीं। ये कविताएँ रामविलासजी ने मुझे वहीं लिखाई थीं। इनमें से कुछ कविताएँ तो केदारजी के पास से मिली कविताओं में थीं, पर कुछ ऐसी भी थीं जो मुझो केदारजी के पास से नहीं मिली थीं। जो कविताएँ मिली भी थीं, उनमें और रामविलास जी के पास से उन्हीं कविताओं का जो प्रारूप मिला था, उनमें कई स्थलों पर पाठ भेद भी है। पाद-टिप्पणियों के द्वारा यथास्थान उनका स्पष्टीकरण दिया गया है।

रामविलासजी द्वारा मिली एक कविता 'दलाई लामा के आने पर' निश्चय ही एक महत्वपूर्ण कविता है। इस कविता को पढ़ने के बाद ही केदारजी का बाँदा-प्रेम यानी मातृभूमि-प्रेम गइराई के साथ समझा जा सकता है। अपनी मातृभूमि छोड़कर दलाईलामा के भारत में शरण लेने के कायरतापूर्ण आचरण पर उनकी जो व्यंग्यभरी, तर्कपूर्ण तीखी टिप्पणी है, वह उनकी अपनी मातृभूमि-प्रेम की कोख से ही पैदा हुई है। यह कविता उनकी व्यंग्य-शैली के कौशल को भी व्यक्त करती है।

इस संग्रह में पाँच कविताएँ 'हे मेरी तुम' शीर्षक से संगृहीत हैं। केदारजी ने इन्हे एक नाथ नत्थी किया था और उसके ऊपर लिखा था, '' All not to be published'' उनके इस निर्देश का उल्लंघन करने की धृष्टता करते हुए,

उन्हें भी इस संकलन में शामिल कर लिया गया हैं, क्योंकि इस प्रतिबंध का कोई कारण-सूत्र इन कविताओं में नहीं मिला।

कोशिश यही रही है कि केदारजी ने कविताओं में जिस शब्द की जो वर्तनी दी है, उससे छेड़-छाड़ न करते हुए उसे वैसे ही जाने दिया जाय। इससे पाठकों को कहीं-कहीं असंगति लग सकती है, जैसे - 'शांति के दस्तखत' कविता के शीर्षक में तो 'दस्तखत' है पर कविता की पंक्तियों में 'दसखत'। कुछ स्थानों पर 'वसंत' और कुछ पर 'बसंत', कहीं 'ज़्यादा' है तो कहीं 'ज्यादा', कहीं 'ज़िन्दगी' है तो कहीं 'जिन्दगी' आदि-आदि ।

केदारजी ने कोई महाकाव्य नहीं लिखा, इसके बावजूद वे महाकाव्यात्मक व्यापकता के कवि हैं। विषय का जो अनंत वैविध्य अनुभव और संवेदन का जो वृहत् संसार उनकी पूर्व प्रकाशित कविताओं में है, यह संग्रह भी उसी की पुष्टि करता है। उनकी कविताओं में केवल विषय का ही वैविध्य नहीं मिलता है, वरन् एक ही विषय को बार-बार देखने, समझने और उसे विश्लेषित करने की दृष्टि में भी वैविध्य है। एक ही विषय पर उन्होंने कई-कई कविताएँ लिखी हैं और जितनी कविताएँ लिखी हैं, सबमें वह विषय अलग-अलग दिखाई देता है। उसके नये-नये रूप, नये-नये आयाम हमारे सामने उद्घाटित होते हैं। हर कविता की धूप, हर कविता की नदी, हर कविता का सूर्य, हर कविता का गेहूँ, अपनी अलग-अलग छवियों और ध्वनियों के साथ हमारे संवेदन-जगत् को समृद्ध करता है।

इस संग्रह की कविताओं को पाठकों तक पहुँचाने में भाई अश्विनीकुमार उपाध्याय और श्रीमती गीता उपाध्याय की बुनियादी भूमिका रही है। बाँदा में इन्हीं के आतिथ्य में एक महीने रहकर केदार-साहित्य का संकलन संभव हो सका। सचमुच इनका आभारी हूँ। कलात्मक आवरण सज्जा के लिए भाई राधेश्याम अग्रवाल तथा सुरूचिपूर्ण शब्द-संयोजन और मुद्रण के लिए अजय प्रिंटर्स के भाई अजयजी का भी आभारी हूँ।

अग्रज शिवकुमार सहाय तो इसकी प्रेरणा ही हैं- यह तो उन्हीं का संकल्प है, जिसे पूरा करने का मैं निमित्त भर हूँ। फिर भी मात्र औपचारिकता निर्वाह के लिए उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस संग्रह की तैयारी नौकरी के समय के बाद के क्षणों में ही सम्भव हो सकी है। और इन क्षणों पर मेरी पत्नी-सावित्री मेरे बच्चों- सौरभ, श्रुति व स्मृति का अधिकार है। मैंने उनके इस अधिकार का हरण करके ही, यह काम सम्पन्न किया है। उनका अपराधी होते हुए भी, उन्होंने मुझे कभी

अपराध-बोध नहीं होने दिया। अब मेरे अन्दर भी इतनी मनुष्यता तो होनी ही चाहिए कि इनके प्रति आभार प्रकट करूँ- सो कर रहा हूँ।

अन्त में आदरणीय बाबू केदारनाथ अग्रवाल को उनके छियासीवें जन्म-दिन पर उन्हीं की कविताओं के इस संग्रह के समर्पण के माध्यम से अपना प्रणाम निवेदित करते हुए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ कि उन्होंने अपने साहित्य के प्रकाशन की हमारी योजनाओं पर कभी किसी तरह की अड़ंगेबाजी नहीं लगाई। हमें पूरी छूट दी कि हम जैसे चाहें उसका उपयोग करें। उनके इस स्नेह और विश्वास के ऋण से हम कभी उऋण नहीं हो पाएँगे।

उम्मीद है यह संग्रह केदार-साहित्य के आस्वादन, मूल्यांकन और विश्लेषण में सुहृद पाठकों/आलोचकों/अनुसंधित्सुओं को मदद पहुँचाएगा।

पुनश्च

प्रस्तुत संस्करण साहित्य-भण्डार, इलाहाबाद से प्रकाशित हो रहा है। इसके लिए मैं भाई सतीशचन्द्र अग्रवाल, प्रिय विभोर अग्रवाल तथा श्री आर० एस० अग्रवाल का आभारी हूँ। केदारजी के सुपुत्र अग्रज अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ कि उन्होंने इस संकलन के पुनः प्रकाशन की अनुमति दी।

28 अगस्त, 2008 – **अशोक त्रिपाठी**
483, कानूनगो अपार्टमेण्ट्स
71, इन्द्रप्रस्थ एक्सटेंशन
दिल्ली-110092
सी-11/151
यमुना विहार, दिल्ली-110 053

❐

अनुक्रम

1. लकड़हारा / 19 20.8.39
2. क्रांति-एक / 19 20.8.39
3. क्रांति-दो / 20 14.9.39
4. मौत / 20 19.9.39
5. प्रभात / 20 10.6.41
6. खंड-खंड हो बादल फटते / 21 5.8.42
7. दीवारें / 22 10.10.42
8. म्यूनिसपैलिटी की लालटेन / 22 7.2.43
9. मल्लाह / 23 29.10.43
10. चित्र / 24 29.10.43
11. भूखा-बंगाल / 24 20.8.44
12. तकवैया / 26 4.8.46
13. खूनी दीवाल / 29 30.9.48
14. कविताओं में अमर रहूँगा / 30 30.9.48
15. मैं प्रहार हूँ / 31 28.9.48
16. चंदनवता चैती गाता है / 32 8.10.48
17. लेनिन / 34 19.1.49
18. हमें अमोघ शांति का विहान चाहिए / 34 13.4.50
19. हम कोई भी नहीं चाहते पुनः युद्ध हो / 35 16.6.50
20. शांति के दस्तखत / 37 17.6.50
21. मुन्वांगी की हत्या पर /38 4.9.50
22. मायाकोवस्की के प्रति / 40 7.1.51
23. नई जिन्दगी / 40 27.1.51
24. प्रात का सोना / 41 22.4.51
25. गलत बात-विश्वास / 42 3.5.51
26. बीन बजी आसुरी / 43 3.7.51
27. शांति का स्वर / 45 7.7.51
28. गृह-जीवन का ओज और प्यार / 46 17.8.51
29. स्वर्ण सबेरा / 48 13.9.51
30. रोटी / 49 12.11.51
31. टूमैन / 49 15.11.51
32. किसानी गाना / 50 29.1.52
33. चिंता की रात / 50 23.2.52
34. मैं / 53 23.3.52
35. जन-गर्जन / 53 12/14.4.52
36. इंकलाबी-गीत / 55 3.5.52
37. नवजागरण / 56 1.11.52
38. ढोल बड़ा बोला रे / 57 2.11.52

39. सूरज का पथ / 57 4.11.52
40. मुक्त युवती / 58 26.11.52
41. ''चौड़ा'' साँड़ / 59 27.11.52
42. क्रांति मशाल / 59 30.11.52
43. इलियाटी साहित्यकारों के प्रति / 60 8.12.52
44. नई किताबें / 60 13.2.53
45. लेखक की गद्दारी / 61 14..53
46. निर्माण का गीत / 61 15.4.53
47. अब न आदमी युद्ध करेगा / 62 4.5.53
48. दरोगा की दुलहिन / 63 8.7.53
49. आत्मवाणी / 64 10.7.53
50. दीप / 64 21.7.53
51. यथार्थ और काल्पनिक सत्य / 65 29.7.53
52. छिंगुली की छाया / 66 29.7.53
53. देबी के बैल / 66 17.10.53
54. गीत / 67 19.10.53
55. तारा / 68 20.10.53
56. निर्धन रत्नाकर / 69 24.10.53
57. जिंदगी को गीत से गढ़ना पड़ेगा / 69 25.10.53
58. नया इंसान / 70 6.11.53
59. तुम भूल सको तो भूलो / 71 7.11.53
60. देश मेरा गान गाए / 72 7.11.53
61. जिंदगी से है मुकरना / 73 8.11.53
62. अभिशाप जग का / 74 8.11.53
63. सूर्योदय / 75 17.11.53
64. सदाबहार / 76 18.11.73
65. शांति का गीत / 76 30.11.53
66. आँख दुखों से आँज रही है / 79 11.12.53
67. घर का अनुभव / 79 12.1.54
68. खेतिहर / 80 18.1.54
69. आदमी ज्योति से जगमगाता रहे / 81 20.1.54
70. श्रम ताप की तपस्या सानंद मैं सहूँगा / 81 20.1.54
71. कर्जे की मार / 82 24.1.54
72. मैं भूतल का स्वस्थ निवासी / 83 31.1.54
73. दयनीय दशा / 83 3.2.54
74. बदरा / 84 5.2.54
75. मोद तुम्हारा मस्तक चूमे / 84 11.2.54
76. हम / 85 12.2.54
77. हमारे लिए / 85 30.3.54
78. मेरी धरती और मैं / 86 7.4.54
79. निराला जी की बीमारी के समय / 86 7.4.54

80. गाँव / 87 8.4.54
81. हिन्दी वालों से 'निराला' की बीमारी के समय /88 17.4.54
82. दर्पण टूटे / 89 24.4.54
83. सेठ जी / 89 29.4.54
84. विवेक / 90 14.8.54
85. स्वार्थ बल / 90 17.9.54
86. तुलसीदास / 91 17.9.54
87. दीवाली / 91 19.9.54
88. देश की बात / 92 21.9.54
89. भाव और ज्ञान / 93 28.9.54
90. प्यार का आलोक / 93 30.9.54
91. धनाभाव में / 94 8.10.54
92. प्रेमचंद / 97 9.10.54
93. अभिन्न ही रहे बने / 97 23.10.54
94. जागरण / 98 1.11.54
95. तारों की नगरी / 98 2.11.54
96. डूबता है चाँद / 99 7.11.54
97. यों नवल आलोक में / 99 7.11.54
98. स्वर-संगम / 100 7.11.54
99. गीतम की प्रति नहीं मिली / 100 3.12.54
100. नए साल को सलाम / 101 1.1.55
101. धरा / 102 13.1.55
102. कवि हमारा नहीं पागल / 103 25.1.55
103. यथार्थ / 104 10.3.55
104. हिन्दी का वरद पुत्र निराला / 104 22/25.3.55
105. लाल कमल / 106 10.8.55
106. धरती को भूलो न / 106 28.8.55
107. सूरज / 107 4.9.55
108. डूबा और खोया / 108 11.9.55
109. रेलगाड़ी / 108 11.9.55
110. शाम / 109 11.9.55
111. वायलेन / 109 15.9.55
112. मैदान / 110 15.9.55
113. उठो कर्मकर नाचो / 110 26.9.55
114. मन के भीतर और एक जग / 111 26.9.55
115. आकाश / 112 22.10.55
116. निकोला वाप्त्सरोव के प्रति / 112 24.10.55
117. मैं और तुम / 113 1.12.55
118. गीत / 114 13.12.55
119. वायु / 115 14.12.55
120. मनुष्य / 115 14.12.55
121. घोड़ा / 115 14.12.55
122. रिश्वत / 116 14.12.55
123. देश अपना रम्य होगा / 116 13.1.56
124. जहाँ कल जीवन दूभर था / 117 18.1.56
125. प्यारे ! नैया यार से / 117 11.2.56
126. गेहूँ / 118 25.2.56

127. जब / 118 25.2.56
128. उन प्यारे हाथों को चूमो / 119 26.2.56
129. माटी अब कब रक्त माँगती / 120 10.3.56
130. करमवान / 120 10.3.56
131. फागुन / 121 22.3.56
132. मेघ / 121 5.4.56
133. पड़ने दो बर्फ और पड़ने दो / 122 9.4.56
134. निर्माण के स्वर / 122 1.2.56
135. तुमने झाँका / 123 9.4.56
136. प्यार / 124 23.4.56
137. गीत बड़ा प्यारा है / 124 23.4.56
138. पिक,छवि, कवि / 125 23.4.56
139. जीवन का रवि रूप उजाला / 127 24.4.56
140. भुना चना / 127 25.4.56
141. मौन बहों / 128 29.4.56
142. करूणाकर हया करो / 128 11.5.56
142. प्रेम सुरा पी आया / 19.7.56
144. मैं / 130 24.7.56
145. महात्मा बुद्ध से / 130 25.7.56
146. रात चाँद की लालटेन ले / 131 7.8.56
147. आओ अब / 131 17.8.56
148. शोक से शरीर सनेगा / 132 21.8.56
149. आत्माभिव्यक्ति / 133 23.8.56
150. पंचशील / 30.8.56
151. मेरी कविता / 134 30.8.56
152. मेरी आत्मा / 135 30.8.56
153. पेट की फरियाद / 135 5.9.56
154. जनयुग / 136 11.9.56
155. एक विदेशी संगीत को सुनकर / 136 12.9.56
156. रम्य रूपा महो / 137 अक्टूबर 56
157. महोबे की बोली / 137 20.11.56
158. ताजमहल / 138 26.11.56
159. रूपतरंग को पढ़ते समय / 139 21.12.56
160. इससे मैं जीवित हूँ / 140 21.12.56
161. भेंट / 140 21.12.56
162. रूपतरंग के छंदों से प्रभावित होकर / 140 22.12.56
163. पेड़ / 141 25.12.56
164. वसंत / 141 28.12.56
165. ताजमहल / 142 दिसम्बर 56
166. सरसों / 143 14.1.57
167. 'सेमल के फूल' पर / 143 18.2.57
168. मोची / 144 22.2.57
169. मैं नहीं लचा / 144 26.2.57
170. मौसम बहार का है / 145 26.2.57

171. निराला के प्रति / 146 27.2.57
172. कविता को भेंट / 146 28.2.57
173. दान यह हृदय का है / 147 3.3.57
174. तुम नहीं सुधियाँ चुराओ / 148 6.3.57
175. पृथ्वी / 149 7.3.57
176. बछड़ा / 149 7.3.57
177. और मैं अकेला / 149 7.3.57
178. खुल गए कमल / 150 10.3.57
179. संध्या / 150 16.3.57
180. तिय है / 151 13.4.57
181. लेखक / 151 4.5.57
182. वे उरोज दो /151 5.6.57
183. जंगल में बस्ती में /152 5.10.57
184. धूप / 152 5.10.57
185. तम प्रकाश /152 6.10.57
186. वर्षाश्री / 152 6.10.57
187. तुम्हारा कोमल स्वर हूँ / 153 8.10.57
188. पूर्णमासी / 153 8.10.57
189. तारा / 154 8.10.57
190. चुम्बन / 154 11.10.57
191. तुम मेरी हो / 155 11.10.57
192. ह्विटमन बाबा / 155 11.10.57
193. अँधेरा / 156 12.10.57
194. आकाश / 156 12.10.57
195. गा दो फिर / 156 13.10.57
196. मौत / 157 21.10.57
197. दीपक / 157 22.10.57
198. फूल-सी कोमल उँगलियाँ / 158 22.10.57
199. मशालें / 158 22.10.57
200. तब तुमको अस्तित्व मिलेगा / 159 22.10.57
201. दौड़ने दो धूप में / 159 22.10.57
202. 'स्पुतनिक-एक' भेजे जाने पर / 159 24.10.57
203. जीना / 160 30.10.57
204. सलाम है सबेरे को / 161 8.11.57
205. रूप के गुनाहों में / 162 8.11.57
206. लाइका के प्रति / 162 18.11.57
207. जो कुछ भी मेरा है / 163 29.11.57
208. तू जल गहरी भरी नदी है / 164 9.1.58
209. बीज / 164 1.3.58
210. नरेन्द्र शर्मा / 164 17.3.58
211. केरल / 165 19.3.58
212. बनैला अंधकार -एक / 166 23.3.58
213. बनैला अधंकार- दो / 166 23.3.58
214. मेरी तो तुम आज नहीं हो / 167 23.3.58
215. यह क्षण / 168 23.3.58

216. कंपित पानी / 168 24.3.58
217. मेरे फूल न छीनो / 169 24.3.58
218. बच्चे की आँखों का काजल / 169 24.3.58
219. आलिंगन / 170 25.3.58
220. मिलन / 170 27.3.58
221. नई लहरें / 170 27.3.58
222. यह बच्चा / 171 27.3.58
223. अंगारी आँखें / 171 27.3.58
224. सरक गई वह भुजबंधन से / 171 28.3.58
225. फूलों के रस-रूप गंध की उठी तरंगे / 172 30.3.58
226. आकाश और धरती / 173 1.4.58
227. प्यासी धरती की पुकार सुनता है बादल / 173 1.4.58
228. इक्के का घोड़ा / 174 5.6.58
229. प्यार / 174 5.6.58
230. वर्षा / 174 22.6.58
231. हे मेरी तुम / 175 23.6.58
232. हे मेरी तुम / 175 23.6.58
233. हे मेरी तुम / 176 23.6.58
234. हे मेरी तुम / 176 25.6.58
235. हे मेरी तुम / 177 25.6.58
236. बीवी जी की चतुराई / 177 26.6.58
237. छोटी-सी तनख्वाह हमारी / 178 13.7.58
238. प्रकाश अभी गया नहीं / 179 18.7.58
239. मैदानी हवा / 179 6.10.58
240. सितार वादन सुनते हुए / 180 4.11.58
241. जीवन / 181 28.11.58
242. कौवा और कबूतर / 181 28.11.58
243. उनकी सुधि आती है / 182 2.12.58
244. वसीयत / 182 17.12.58
245. धूप चुराए गेंदा / 183 17.12.58
246. सारंगी सुनकर / 183 30.12.58
247. रात / 184 24.1.59
248. दलाई लामा के आने पर / 184 18.4.59
249. किसान-स्तवन / 186 24.4.59
250. सावन का यह माजरा / 187 13.9.59
251. मौन में जो गीत / 187 15.9.59
252. अमलतास फूला है वन में / 187 30.9.59
253. भूमिजा के लिए / 188 2.10.59
254. प्रसन्न बकुल / 189 7.10.59
255. गाया हुआ गीत / 190 10.10.59
256. प्रकाश के भास्वर रंगों से भासमान / 191 13.10.59
257. नया जन्म दिन / 192 19.10.59
258. अँखुए / 192 20.10.59
259. भूमि हुई धन्य / 193 20.10.50

260. बेला / 194 22.10.59
261. प्रिय है मुझे जीवन / 194 26.10.59
262. हम हीरों की कुहनियाँ / 194 29.10.59
263. जो निरस्त्र हैं / 195 29.10.59
264. यह असत्य नहीं / 196 30.10.59
265. फूल जो खिला / 197 30.10.59
266. दीपावली / 197 30.10.59
267. मैं हूँ आप ही अपनी तलवार / 198 30.10.59
268. गीतों के पाए / 198 31.10.59
269. मुस्कान / 199 31.10.59
270. सेमर का पेड़ / 199 1.11.59
271. छोटी अँगुलियाँ / 200 1.11.59
272. कालिदास / 200 2.11.59
273. दिन भी गरम और गुदगुदा होता है / 202 3.11.59
274. टूटते हुए तारे से न पूछो / 203 16.11.59
275. प्रकाश / 204 17.11.59
276. विपर्यय / 205 18.11.59
277. हुआ चाहे जो हो / 205 19.11.59
278. वाह रे गेंदा / 206 19.11.59
279. लकड़ी का टाँड़ / 206 22.11.59
280. मैं हूँ वसन्त में प्रसन्न हुई पृथ्वी / 207 23.11.59
281. बिजली / 208 24.11.59
282. आग ने अंगार तोड़े / 208 24.11.59
283. माथे से खरोंच कर अपना सोना / 208 24.11.59
284. जो भी और जब भी / 209 25.11.59
285. मैं रोकूँगा आँधी / 209 28.11.59
286. मैं यकायक / 209 1.12.59
287. सिंधु को अस्तित्व से मथा है हमने / 210 12.12.59
288. गाया गीत / 211 30.12.59
289. तुम जीने दो हमें / 211 25.1.60
290. क्षणिकाएँ / 212 27.1.60
291. अनदुही गाएँ / 213 11.2.60
292. काल ही हमसे हारा / 214 25.2.60
293. हम हैं मनुष्य / 214 25.2.60
294. दुस्साहस कर सकता हूँ / 215 1.3.60
295. हम / 216 2.6.60
296. जन्म नए मनुज का / 216 30.9.60
297. अंधकार और प्रकाश / 217 30.9.60
298. मिट्टी को सोना कर देगा / 217 30.9.60

299. विश्वास / 217 30.9.60
300. पहाड़ / 218 5.10.60
301. आओ बच्चन! गाओ बच्चन !! / 218 8.10.60
302. अंधकार की जवान बेटी / 219 11.10.60
303. नदी / 219 12.10.60
304. लालन / 220 13.10.60
305. वेगवती नदी / 220 13.10.60
306. मौन / 221 13.10.60
307. गरीब के दिल का दिया / 221 13.10.60
308. हम बहते हैं / 221 13.10.60
309. यह सफेद दिन / 222 13.10.60
310. प्रभात की पहली किरन / 222 19.10.60
311. नदी शारदीया अलबेली / 223 19.10.60
312. कमल पत्र पर जल के मोती / 224 20.10.60
313. पत्थर के अन्दर कोई बैठा होगा जरूर / 224 21.10.60
314. सूर्यास्त का रंगीन रोमानी समारोह / 224 21.10.60
315. छातियों में दूध-नेह नैन में भरे / 224 21.10.60
316. दीपक / 225 21.10.60
317. अनाज चुगते-चुगते / 225 21.10.60
318. सुबह आई फूल को चूमने/226 21.10.60
319. आलोक सोमरस / 226 21.10.60
320. प्रगति / 227 1.11.60
321. नदी / 227 5.11.60
322. स्वर्ण किरण से / 228 23.11.60
323. वसंत के इस रंगीन महोत्सव में / 228 1960

❐

लकड़हारा

खूब घने जंगल में
भारी सी कुल्हाड़ी लिये हाथों में
काटता है कहीं कड़ी लकड़ी
नंगी पीठ जलती है सूरज की लपटों में
खौलता उबलता है पसीना खूब।

दूर तक सीमाहीन
अंधकार दिखता है
सिर ऊपर लादे बोझ
साधे रास्ते पर पाँव
लौटता है काँटों पर चलता है
लकड़हारा थका-हारा घर में।

20-8-1939, रात

क्रांति

(एक)

अंगारे आग के
सुबह और शाम की ज्वाला से
गिरते नहीं धरती पर!
मिथ्या है ज्वालामुखी आसमान!!
धरती पर धरती के भीतर से
आग फूट आती है
चारों ओर फैलती है
गाँवों में, शहरों में, बड़ी-बड़ी लपटें लिये!!

20-8-1939, रात

(दो)

दीपक को बुझे हुए देर हुई
छायाएँ-कायाएँ सौ हजार
नाचती हैं सिरहाने-पैताने आसपास;
आग के अंगारे
रात के अँधेरे
चूल्हे में पड़े-पड़े
खूनी आँच देते हैं साँसों में गरम-गरम!!

14-9-1939, 10 बजे रात

मौत

कमरे के कोने में
कीड़ों की घात में बैठी है छिपकली!
साँस तो लेती है, मालूम कुछ होता नहीं,
चुपचाप चिपकी दीवार से
दुम को दबाए आँख मीचे है
प्राण हरती है हर एक के
धोखे में दुनिया है

19-9-1939

प्रभात

आज मैंने रूप-रक्त प्रभात देखा!
अरुण-अंग-अबीर की रज
वायु-वंशी के सहस्रों छिद्र से झर,
संवरण बन,
सृष्टि पर छाई प्रचुरतर;
राग का, आह्लाद का सम्पात देखा।
वेश साजन का सजाए,

एक टोली में खड़े लाखों चने सब,
मत्त होकर,
घंटियाँ टुन-टुन बजाते,
श्याम-तन को पूर्ण विद्रुम गात देखा!
गेहुओं की बालियों को
शीश से अंचल हटाकर, गुहे चोटी,
यौवनातुर,
लाज का परिधान तजकर,
नेह से सुस्मित मधुर प्रतिपात देखा!
धेनुओं को, धेनु-शिशु को,
पूँछ नीचे और ऊपर फेर प्रतिपल,
आँख मूँदे,
रंग से बचते-बचाते,
मार्ग जाते, कूदते द्रुत गात देखा!
आज मैंने रूप-रक्त प्रभात देखा!!

10-6-1941

खंड-खंड हो बादल फटते[1]

मध्य रात्रि के,
अंधे-बहरे अंधकार के,
दिगदिगन्त व्यापी ध्वनिकारी,
धरा मेरु सागर समीर के वक्ष विदारक,
अनायास ही,
खंड-खंड हो, बादल फटते!
अन्तरिक्ष में
नीलाम्बर का रूप अगोचर
चन्द्र-बिम्ब-उडु-मणि से मंडित प्रकटित होता,
भूतल को स्वर्गाञ्चल छूता!
खंड-खंड हो बादल फटते!!

5-8-1942

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

दीवारें

मैं मिट्टी की दीवारों को
जो जलते-जलते ईंधन से
तीस साल से धुआँ रही हैं
हर प्रवाह के साथ साँस के
होती ही जाती है धूमिल

मैं तो उनको
उन मिट्टी की दीवारों को
रगड़-रगड़कर कड़े टाट से
सारी स्याही छुड़ा-छुड़ाकर
कूँची के पौरुष से हरदम
चूने से अब पोत रहा हूँ।
आशा है मेरी दीवारें
फिर उजली होकर चमकेंगी
जैसे खोई हुई दिशाएँ
उज्ज्वल हो जाती हैं दिन में।

10-10-1942

म्यूनिसपैलिटी की लालटेन

बेकार व्यर्थ ही बेचारी
चुपचाप खड़ी वह एक ओर चालीस साल से रोती है
ऐसा इसका दुख भारी है
जिससे हरदम चौरस्ते पर छाई रहती अँधियारी है
राही समीप से जाता है
तो धीरे-धीरे जाता है
तिस पर भी ठोकर खाता है
जीवन का रक्त गिराता है
असमय ही वह मर जाता है
उल्लू फिर शोक मनाता है

सारी रजनी मँडराता रह
शव के ऊपर चिल्लाता है
बेकार व्यर्थ ही बेचारी
चुपचाप खड़ी वह एक पाँव चालीस साल से रोती है।

7-2-1943

मल्लाह[1]

मल्लाह पार ले जाते हैं
जब रुद्र भयंकर प्रलयंकर
ताण्डव नर्तन करते सर पर,
फुंकार मारतीं घहरातीं नदियों पर नाव चलाते हैं

मल्लाह पार ले जाते हैं
पथिकों से पूरी तरह भरी
हिलती-डुलती है प्रतनु तरी
लेकिन पूरा विश्वास किए दृढ़ता से डाँड़ लगाते हैं

मल्लाह पर ले जाते हैं
फन मार लहर के, छप-छपकर,
सर सर सर सर सर सर सर सर
तेजी से नि:संशय तरनी तट पर, हँसकर, पहुँचाते हैं

मल्लाह पार ले जाते हैं
विरले ही कोई आहत हो
हत्बुद्धि और हत्चेतन हो
मँझधार धार में धँस करके जीवन की नाव डुबाते हैं
मल्लाह पार ले जाते हैं

29-10-1943

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

चित्र[1]

मुझको चित्र नहीं भाते हैं
जो इस नभ को पूरा तजकर
फ्रेम और शीशे के भीतर
एक निकम्मा स्वर्ग सजाकर कल्पित सुख में रम जाते हैं

मुझको चित्र नहीं भाते हैं
सदियों दीवारों से लगकर
हरदम एक जगह पर रहकर
जीते हैं तो भी तो मृत हैं, युग के काम नहीं आते हैं

मुझको चित्र नहीं भाते हैं
रंगों में रक्ताभ नहीं है
जीवन में बलिदान नहीं है
नई समस्याएँ मनुष्य की किंचित् नहीं समझ पाते हैं।
मुझको चित्र नहीं भाते हैं।

29–10–1943

भूखा–बंगाल

उजड़ा प्रान्त इतने अधिक मरे!
वृद्ध गए सुरधाम
पुरातन वृक्षों की छायाएँ सोईं
प्रश्रय पवन गया!!
नए, जवान
अधेड़ उमर के,
एक–एक दाने को तरसे;
पल–पल कल्हरे,
सड़क किनारे बड़े कष्ट से निकले उनके प्राण!

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

राँड़ें रोईं
बच्चे रोए,
कन्याएँ रोईं-चिल्लाईं
होकर 'भूख-भूख' से पागल छोड़ चलीं घर बार!

कुछ माँओं ने
लोक लाज से, दृढ़ मर्यादा के बंधन से,
पतन गर्त में गिर जाने के अतिशय भय से
अपना परम धर्म यह जान
माँ काली कह
गला दबाया कन्याओं का अपने कर से!
और सुतों को देख तड़पता,
व्यथा-विकल हो,
उनको भी पहुँचाया स्वर्ग;
खारे आँसू के समुद्र में उन्हें बहाकर!
फिर अपनी भी दे दी जान
जाकर डूब कहीं सरवर में!

कुछ ने धीरज धर्म गँवाया
रोटी के टुकड़े के खातिर
धनियों को प्रिय तन-मन बेचा।
कामवासना के मन्दिर में उठी रूप की करुण पुकार!!
कंठ-हृदय की मनोमोहिनी मधुर रागिनी
नूपुर की, पद की, पहचानें छवि की ध्वनियाँ!

नयनों के संकेत संदेशे,
ओठों की मुकुलित प्रिय भाषा,
अंगवास,
यौवन की शोभा,
सबके सब डूबे सूने गृह के विषाद में!!
क्षोभ! क्षोभ! उफ महाक्षोभ है!!
रवि बाबू की काव्यकला के प्रेमी मधुकर
शरत्चन्द्र की कथा-वार्ता के शुक श्रोता
भूख यज्ञ में जले मरे!!

उमड़ीं आहें;
आर्त्तनाद से काँपा देश!
किन्तु मुनाफाखोर न डोले
गिद्ध रहे अविचल के अविचल–
खुले न उनके कान;
खुले न गोदामों के ताले।
नरक हुई धरती की गोदी॥
त्राहि–त्राहि का बहा भयानक विषम समीर!!
मानव है दारुण खतरे में
अब सत्ता होती है लोप!!
उजड़ा प्रान्त इतने अधिक मरे!!

20–8–1944

(यह कविता 'सम्मान : केदारनाथ अग्रवाल' बाँदा, 1986 के अवसर पर डॉ० रामविलास शर्मा ने केदारजी के घर पर सम्पादक को लिखवाई थी। बाद में इस संकलन को तैयार करते समय यह कविता सम्पादक को केदारजी की पुरानी कविताओं में थोड़ी भिन्नता के साथ मिली। प्रस्तुत प्रारूप डॉ० शर्मा द्वारा लिखवाई कविता का ही है—सम्पादक।)

तकवैया[1]

रात–अँधेरी,
दिया न बाती,
तकवैया कुरिया में बैठा
ताक रहा है अपनी खेती!

प्यारे–प्यारे–प्यारे पौधे,
जिनको उसने खुद उपजाया,
खून पिलाया, दिल–सा पाला,
नाती–पोते और पनाती–सा दुलराया,
उन सबको–सब–सब पौधों को,
भारी तम ने ढाँप लिया है!

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

पत्ता-पत्ता,
डंठल-डंठल,
तन की मन की छवि हरियाली,
शोभाशाली बाँकी झाँकी,
उनका हिलना-उनका झुलना,
नहीं दिखाई देता कुछ भी!

उसके प्यारे नाती-पोते
उसके प्यारे-प्यारे पौधे,
-उसके सींचे,
उसके ताके-
उसकी आशा की सुख-साधें,
उसकी आँखों से ओझल हैं!

कटु कानूनी रोक लगी है।
हाथों में बंदूक नहीं है,
गोली औ' बारूद नहीं है,
हिंसक पशु धावा करते हैं,
खेती को चौपट करते हैं।
लाचारी है-
तकवैया हैरान बहुत है!!

धरती टोते-टोते चलना,
उठकर बढ़ना,
लाठी से पशुबल से लड़ना
नामुमकिन है-नामुमकिन है!

हवा स्यार का 'हुआ हुआ' लेकर आती है,
नाती-पोतों को-पौधों को,
'हुआ-हुआ' से डरवाती है;
कुरिया के भीतर पागल-सी,
बिना बुलाए घुस आती है;
'हुआ-हुआ' ही-'हुआ-हुआ' ही चिल्लाती है!
नींद नहीं आने पाती है!

स्वप्न नहीं आने पाते हैं!!
हवा-हवा ही,
ठंडी-ठंडी,
पैनी जैसे पैनी बरछी,
काट कलेजे को देती है!
हाड़-मांस उफ! कँपा-गला दोनों देती है!
तकवैया आँखें खोले है,
जाने कितनी छायाकृतियाँ देख रहा है-
जो अँधियारे में अंकित हैं,
बहुत बहुत हैं :

एक सुअर है,
सौ सुअरों का उसका दल है!
सब मिलकर हत्या करते हैं
नाती-पोतों की-पौधों की!

एक गाय है,
-उसके ऊपर गोरा बैठा
तहस-नहस करता है सबको-
बहुत थकी है।
खाना-दाना की भूखी है;
रेंग रही है धीरे-धीरे!

एक सिंह है,
जो मृगछौनों को पकड़े है;
लोहू में पंजे डूबे हैं;
मांस खा रहा है उधेड़ कर!

एक बड़ी भारी पलटन है,
जो गाँवों-गाँवों में जाकर,
गाँव-गाँव को जला रही है,
ध्वंस कर रही है जमीन को!
मरे पड़े हैं काले कुत्ते!
जगह-जगह पर फाँसी झूले

झूल रही हैं लाशें लटकीं!
झंडे लिये भीड़ चलती है,
–औरत भी हैं,
बच्चे भी हैं,
मर्द बहुत हैं–
उन पर बन्दूकें चलती हैं!
निरपराध धरती रँगती है!!
एक बड़ा दानव हँसता है,
हा! हा! हा! हा!

रात अँधेरी,
दिया न बाती,
डर धरती पर रेंग रहा है!
शोर मरैली चिड़िया करती।
तकवैया अतिशय चिन्तित है!
तारे दूर, बड़े धीमे हैं!
लाल सबेरे की देरी है!!

4–8–1946

खूनी दीवाल

वह दीवाल नहीं हँसती है
वह चुपचाप राह को रोके अडिग खड़ी है
उसके भीतर हृदय-भावना
सकल चेतना
चिन्तन और विचार मनुज के,
एक-एक कर जकड़ गए हैं।
सबल भुजाएँ सत्य कर्म की
उसको छूकर म्लान हुई हैं
कोटि-कोटि पग उसके सम्मुख पंगु हुए हैं
समय करोड़ों आकृतियों का–
आदर्शों का–

रूप रंग रेखाओं वाला,
उसके मन में मौन पड़ा है!
स्वयं मृत्यु है जैसे लोहित कफन लपेटे!
कुछ दुनिया के विद्रोही जन
उस पर घन की चोट मारकर
उसे ढहाने के प्रयास में लगे हुए हैं
सामन्तों का दल प्रहार से चिल्लाता है :
हमें न मारो!
पूँजीवादी वर्ग चोट खा चिल्लाता है :
मुझे न मारो!
प्रतिक्रियावादी दल रोकर घिघियाता है :
हमें न तोड़ो!
और कुटिल साम्राज्यवाद भी आहत कहता :
मुझे छोड़ दो!

लोक पूछते हैं संशय से :
टूटेगी दीवाल भला क्या?
मैं कहता हूँ :
टूट चुकी है रूस देश में
चीन, मलाया, बर्मा में भी टूट रही है
और पूर्वी यूरप में भी टूट रही है!
शीघ्र एक दिन टूट जाएगी दुनिया-भर से!!

30-9-1948

कविताओं में अमर रहूँगा[1]

मैं न रहूँगा
लेकिन यह बिजली का खंभा
सदा रहेगा
इसी तरह यह खड़ा रहेगा
बहुत समय तक!

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

मैं मर कर भी
कविताओं में अमर रहूँगा
यह जीकर भी
खड़ा-खड़ा भी मरा रहेगा
बहुत समय तक!

30.9.1948

मैं प्रहार हूँ[1]

मैं नहीं मरा हुआ हूँ आदमी,
जो कि कान बन्द किए,
आँख मूँदकर पड़ा,
विचार-शून्य, खोखला,
समाप्त हो गया–
अवाक् हो गया;
जिसे तुषार-शीत ने लेपटकर,
कफ़न में क़ैद कर लिया,
कि भूमि उसको खा सके।

मैं नहीं मरा हुआ हूँ आदमी,
क्योंकि पूर्वीय क्रान्ति,
अब शरीर में सप्राण,
आज व्याप्त हो गई है,
और लाल चीन मुझे
दे रहा है ज़िन्दगी ही ज़िन्दगी
समुद्र की;
रक्त के प्रभात-सा,
इंडोनेशिया मुझे,
खिला रहा है फूल-सा,
जिला रहा है धूप-सा,

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

इंकलाब-इंकलाब
गा रहा है ब्रह्मदेश
आज आत्मगीत बन!

कि आज मैं दिलेर हूँ;
भुजाएँ जोश से भरी,
उठा रहा हूँ तेग-सी
कुदंड काटने को अब!

कि आज मैं प्रहार हूँ;
दीवार तोड़ने को सब,
शिला विदारने को सब,
बरस पड़ा हूँ रोष से!

कि आज में सघोष हूँ
धड़क रहा है दिल अमंद,
घनघना रहे हैं बोल,
झनझना रही है देह
शोषितों के श्वास से!

कि आज मैं ही कर्म हूँ
नवीन सभ्यता लिये,
स्वदेश में डिमॉक्रेसी
मजूर की-किसान की,
विरच रहा हूँ यत्न से।

28-9-1948, रात

चंदनवा चैती गाता है[1]

चन्दनवा चैती गाता है

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

खुली हवा में।
काट चुका है फसल चना-
गेहूँ की भारी।
लॉक लढ़ी में ढोई है,
उसने माँड़ी है।
घरवाली के साथ ओसाया
है समीर में।
दाने के ऊँचे पहाड़ को
खड़ा किया है।
अपनी मेहनत के जादू से
मोह लिया है।
दूर-दूर तक उसके श्रम का
अन्न गया है।
भूख-भूख से पीड़ित जन का
पेट भरा है।

चन्दनवा चैती गाता है
खुली हवा में।
राजमहल में हारा राजा
सुस्त पड़ा है।
धीमी-धीमी श्वास-क्रिया
प्रश्वास-क्रिया है।
अब राजा की चलाचली की
यही घड़ी है।
विश्वासी मंत्री हारे हैं,
डरे हुए हैं।
राज-दण्ड धरती की रज में
लोट रहा है।
इंकलाब का सैलाबी स्वर
गूँज रहा है।
राजकीय बन्धन टूटा है
जरामरण का।

8-10-1948

लेनिन

साथी लेनिन जीता है
वह मरता तो हम मर जाते
हम कैसे ज़िन्दा रह पाते
ज़िन्दा रहने का नवजीवन साथी लेनिन देता है
साथी लेनिन जीता है।

नहीं छिदी है उसकी छाती
हर छाती है उसकी छाती
हर छाती को ताने, मोरचा साथी लेनिन लेता है
साथी लेनिन जीता है।

वह आँखों का तारा है
प्राणों से भी प्यारा है
सबसे ऊँची लाल लपट को साथी लेनिन सेता है
साथी लेनिन जीता है।

वह रहता है साथ हमारे
वह रहता है हमें उबारे
दुनिया भर के मजदूरों का साथी लेनिन नेता है
साथी लेनिन जीता है।

19-1-1949
(21 जनवरी, लेनिन के जन्मदिन के लिए)

हमें अमोघ शान्ति का विहान चाहिए

हरेक देश के महा विशाल वक्ष के
महान जनसमूह की महान फौज के
बड़े-बड़े बलीन कोटि-कोटि आदमी
डटे खड़े सलाम दे रहे हैं शान्ति को।

न युद्ध चाहिए हमें, न नाश चाहिए,
न बम-प्रयोग चाहिए, न तोप चाहिए,
न मौत के कबाड़ियों की हाट चाहिए,
न रूस के विरुद्ध युद्ध-घोष चाहिए।

न कर्ज चाहिए हमें, न दान चाहिए,
न शून्य से रचा हुआ विधान चाहिए,
न च्यांग से महान देशभक्त चाहिए,
न नाग-पाश में बँधा विहान चाहिए।

हमें अमोघ शान्ति का विहान चाहिए।
हमें विराट विश्व का विधान चाहिए।
हमें अटूट कर्म की कमान चाहिए।
कमान-से मिले हुए जमीन-आसमान चाहिए।

13-4-1950

हम कोई भी नहीं चाहते पुनः युद्ध हो

हम कोई भी नहीं चाहते
नहीं चाहते
नहीं चाहते
पुनः युद्ध हो
मौत कूकती दौड़ी आए
झंझा लाए
रत्ती भर भी नहीं चाहते
नहीं चाहते
नहीं चाहते
पुनः युद्ध हो
भारी भय धरती में व्यापे
जनता काँपे

सपने में भी नहीं चाहते
नहीं चाहते
नहीं चाहते
पुनः युद्ध हो
पीली पड़ कलियाँ मुरझाएँ
झर-झर जाएँ

मति गति से हम नहीं चाहते
नहीं चाहते
नहीं चाहते
पुनः युद्ध हो
भाड़े के सैनिक अलसाएँ
तोप चलाएँ

एक मिनट भी नहीं चाहते
नहीं चाहते
नहीं चाहते
पुनः युद्ध हो
घायल हो दिल खून बहाए
चुप सो जाए

सच कहते हैं नहीं चाहते
नहीं चाहते
नहीं चाहते
पुनः युद्ध हो
खेतों में तम्बू गड़ जाएँ
हाड़ बजाएँ

कर्म वचन से नहीं चाहते
नहीं चाहते
नहीं चाहते
पुनः युद्ध हो
दानव दह-दह आग जलाएँ
धुआँ उड़ाएँ

अन्तस्तल से नहीं चाहते
नहीं चाहते
नहीं चाहते
पुनः युद्ध हो
मानव की संस्कृति मिट जाए
शून्य समाए

सबके हित में नहीं चाहते
नहीं चाहते
नहीं चाहते
पुनः युद्ध हो
रवि-शशि दीपक बुझ-बुझ जाएँ
तम फैलाएँ।

16-6-1950

शान्ति के दस्तख़त

यह समय है शान्ति का,
तोप का बम का नहीं,
युद्ध का-गम का नहीं,
इसलिए मैं लौह कर से,
खून में डूबी कलम से,
शान्ति के दसख़त करूँगा,
शान्ति का दृढ़ मोरचा निर्मित करूँगा!

कवि, मनीषी, ज्ञानवान,
गाँववासी सब किसान,
कामकाजी सब मजूर,
शोषितों का सब समूह,
प्रात की नवचेतना से कह रहा है,
इसलिए मैं क्रान्ति-कर से,
आग की दहती कलम से,

शान्ति के दसख़त करूँगा,
युद्ध की कटु भावना खंडित करूँगा।

जो बहुत धमका रहे हैं,
बम बनाए जा रहे हैं,
गीत खूनी गा रहे हैं,
नाश को ही ला रहे हैं,
मैं नहीं उनकी सुनूँगा–
वह न जीतें–
वह न पनपें–
इसलिए मैं सत्य की सद्भावना से,
विश्व के व्याकुल हृदय पर,
शान्ति के दसखत करूँगा,
मृत्यु की छाया हरूँगा!!

17–6–1950

मुन्वांगी ही हत्या[1] पर

(1)

आदमखोर जहाज खड़ा था आसमान में
आसमान में आसमान में
चीर कलेजा तीर चुभा था आसमान में
आसमान में आसमान में
अमरीकी यमराज उड़ा था आसमान में
आसमान में आसमान में
हत्या का भूकम्प उठा था आसमान में
आसमान में आसमान में
धाँय–धाँय का काल चढ़ा था आसमान में
आसमान में आसमान में

---

1. मुन्वांगी की हत्या 17–7–1950 को हुई थी।

(2)

रंग भंग था हुआ हर्ष के रागरंग में
रागरंग में रागरंग में
शीतपात था हुआ हास के रागरंग में
रागरंग में रागरंग में
वज्रपात था हुआ प्राण के रागरंग में
रागरंग में रागरंग में
रक्तपात था हुआ भूमि के रागरंग में
रागरंग में रागरंग में
मुन्वांगी मर गया खेलता रागरंग में
रागरंग में रागरंग में

(3)

बोविनरी घाटी डूबी थी शोक सिन्धु में
शोक सिन्धु में शोक सिन्धु में
जनता की छाती डूबी थी शोक सिन्धु में
शोक सिन्धु में शोक सिन्धु में
पृथ्वी की छाती डूबी थी शोक सिन्धु में
शोक सिन्धु में शोक सिन्धु में
दीपक की बाती डूबी थी शोक सिन्धु में
शोक सिन्धु में शोक सिन्धु में
कोयल की वाणी डूबी थी शोक सिन्धु में
शोक सिन्धु में शोक सिन्धु में

(4)

किन्तु रक्त-रवि मुन्वांगी का तेजवान है
तेजवान है तेजवान है
शोक सिन्धु से सौ गज ऊपर भासमान है
भासमान है भासमान है
बोविनरी घाटी के उर में प्राणवान है
प्राणवान है प्राणवान है
तान-तान कर मार रहा जो अग्निबान है
अग्निबान है अग्निबान है

अमरीकी आदमखोरी अब नाशवान है
नाशवान है नाशवान है

4–9–1950

मायकोवस्की के प्रति

कविवर !–
तेरी कविता बल है,
जीवित लोहू,
जागृत जल है।

कविवर !–
तेरी कविता घन है,
फौलादी
हँसियों का वन है।

7–1–1951

नई ज़िन्दगी

नई ज़िन्दगी है
नए फेफेड़ों में हवाएँ नई हैं
नए लोचनों में निगाहें नई हैं
नया दिल धड़कता
नई ज़िन्दगी है

नई ज़िन्दगी है
नए आदमी की भुजाएँ नई हैं
करोड़ों उमंगें कलाएँ नई हैं
नया बल उमड़ता
नई ज़िन्दगी है

नई ज़िन्दगी है
नई कल्पना की जवानी नई है
नई कामना की कहानी नई है
नया रवि विहँसता
नई ज़िन्दगी है

नई ज़िन्दगी है
नए तीर-तरकस निशाने नए हैं
जुझारू नए गीत, गाने नए हैं
नया स्वर सँवरता,
नई ज़िन्दगी है

नई ज़िन्दगी है
नई राह है चौमुहाने नए हैं
नई मंजिलों के दहाने नए हैं
नया लोक बसता
नई ज़िन्दगी है

27-1-1951

प्रात का सोना[1]

प्रात का सोना कली के गात गोरे रंग गया है।
डालियों के पंख-पल्लव-पात कोरे रँग गया है॥
रँग गया है रँग गया है भृंग श्यामल रँग गया है।
रूप के रक्ताभ रँग में अब हलाहल रँग गया है॥

मोतियों के ओस का वन आज कंचन हो गया है।
आँसुओं का आर्द्र बादल आज कुन्दन हो गया है॥
खो गया है खो गया है आत्म-वंचन खो गया है।
वेदनामय विश्व को अब आत्म-दर्शन हो गया है॥

22-4-1951

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

ग़लत बात-विश्वास

यह बात ही ग़लत है,
विश्वास ही ग़लत है-
बन्दूक को चलाकर,
हम शान्ति पा सकेंगे,
अणुबम गिरा-गिराकर,
हम त्राण पा सकेंगे,
आजाद रह सकेंगे,
निर्माण कर सकेंगे।

गोली अगर चलेगी,
बच्चे गुलाब जैसे
-माँ-बाप के सहारे-
आहत हृदय मरेंगे,
रज में विलीन होंगे;
कोयल रुदन करेगी,
हर डाल देख टूटी-
धीरज नहीं धरेगी;
बुलबुल विलाप करती,
बेघोंसला फिरेगी,
हर साँस में हवा के
सिसकारियाँ भरेगी;
शबनम शराब दोनों,
करुणा कथा कहेंगी,
लोहू-लुहान धरती-
में आह ही भरेंगी;
इतिहास के सबेरे की रोशनी बुझेगी,
हो जाएगा अँधेरा,
कलियाँ नहीं खिलेंगी।

यह बात ही ग़लत है,
विश्वास ही ग़लत है-
खंडहर नगर बनाना,

सुन्दर महल ढहाना,
संसार का हृदय ही बमबाज का निशाना,
मरघट यहाँ बनाना–मरघट वहाँ बनाना,
झंकार ज़िन्दगी की हर तार को मिटाना,
इंसान के चमकते नक्षत्र को बुझाना,
मृत राख से, चिता से नव सृष्टि को रचाना।

अब बम नहीं गिराना, अब बम नहीं गिराना।
है शान्ति का ज़माना, सूरजमुखी ज़माना॥

3–5–1951

बीन बजी आसुरी[1]

दीन की
न बीन बजी
हीन की
न बाँसुरी
बार–बार बीन बजी–
बीन बजी
आसुरी

तीर भी
अधीर
और नीर भी
अधीर है
तीर
और नीर का
समीर भी
अधीर है
त्रास–ग्रस्त

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

गात है मयंक का
पतंग का

कंज की
कली
खड़ी तड़ाग में
उदास है
कोष में
न गंध है
न राग है
न हास है
म्लान है
मयूर-पंख
रूप-रंग म्लान है

सिंह के
सपूत की
खिंची नहीं कमान है

कंठ में
न क्रान्ति है
न ओठ में
प्रभात है

आँख में
न आग है
न पाँव में
प्रपात है

अंग में
उमंग में
चुभा हुआ त्रिशूल है

मेरु-भार

ज़िन्दगी है–
ज़िन्दगी न फूल है
दीन की
न बीन बजी
हीन की
न बाँसुरी
बार-बार बीन बजी–
बीन बजी
आसुरी

3–7–1951

शान्ति का स्वर

आओ, मेरे स्वर में स्वर दो,
गाओ जग का गीत।
गाँव-गली में भर दो भर दो,
जीवन का संगीत॥
पीले पत्तों की आबादी,
पीड़ा से है म्लान।
आशा के शीतल चन्दन से,
दे दो उसको प्रान॥
आकाशी तारों के साथी,
मेरे मन के मीत।
आओ, शोषित को भी दे दो,
साहस का संगीत॥
उसकी रूखी-सूखी बाँहें,
हो जाएँ बलवान।
युग की अगुआ बाँहें बनकर,
लाएँ स्वर्ण-विहान॥

और चलो धूमिल खेतों तक,
गाते गाते गीत।
जहाँ पुरानी सामंती की,
फैली है अनरीत॥
वहाँ कृषक के साथ सुनाओ,
मुक्त मही के गान।
पैदा हों जनता की फस्लें,
नस्लें हों बलवान॥

आओ, हम भी तुम भी गाएँ,
वह जनवादी गीत।
डौकी लेकर जो गाते हैं,
युद्ध-विरोधी मीत॥
पॉलराबसन युग का गायक,
गाता है युग-गान।
हम भी युग का गान सुनाएँ,
लाएँ शान्ति महान॥

कोई भी हथियार नहीं है,
और न कोई नीत।
जो जनता को मारे-काटे
लेवे धरती जीत॥
साथी! ऐसी शान्ति नहीं है,
जो अब जाए हार।
देखो, उसको पुष्ट किये है,
माँ-बेटों का प्यार॥

7-7-1951

गृह-जीवन का ओज और प्यार

शान्ति हमारे घर में आए,
प्यार भरी मुसकाए।

खपरैलों पर डौकी बोले,
आँगन में मँडराए॥
मेरे घर की रानी नाचे,
मुन्ना बेटा गाए।
भारत की भावी आशा को,
पय-पीयूष पिलाए॥

मैं भी नाचूँ, गाने गाऊँ,
फूला नहीं समाऊँ।
रानी के वैभव पर रीझूँ,
मुन्ना पर बलि जाऊँ॥
पीड़ा की पैनी बरछी को,
पैरों से ठुकराऊँ।
बात बात में नवजीवन के,
नव जलजात खिलाऊँ॥

मेरा घर मेरी सत्ता है,
भूल नहीं हो जाए।
सत्यानाशी बम-बारूदी,
चुपके चुपके आए॥
मेरे घर की नींव हिलाए,
खँडहर इसे बनाए।
हँसता गाता स्वर्ग हमारा,
मिट्टी में खो जाए॥

मैं रानी मुन्ना के खातिर,
युद्ध न आने दूँगा।
दो हाथों से सब फौजों को,
बाहर ही रोकूँगा॥
सत्यानाशी ऐटम बम को,
ऊपर ही लोकूँगा।
महासिंधु के महाअतल में,
निश्चय ही झोंकूँगा॥

ऐसी कोई शक्ति नहीं है,
जो अब परदा डाले।
मेरे जीवन की ताकत को,
जो अब मुझसे पा ले॥
मेरे कंधे से बंदूकें,
जो अब आज चला ले।
मेरी ही आँखों के आगे,
मेरा स्वर्ग जला ले॥

17-8-1951

स्वर्ण-सबेरा

अँधियर उदसैं लाग किरन पूरब माँ जनमी।
चोला बदलैं लाग गरीबिन जोगिन पुहमी॥
सेंदुर बरसैं लाग सोहागिन ह्वै गईं कलियाँ।
अपत कटीली डार करति हैं हँसि रँगरलियाँ॥

उजियर उबरैं लाग पखेरू जागे चहके।
वन के वन तन-मन से फूले महमह महके॥
कायर कंझे क्वैला दहके दह-दह दहके।
लोहू की लाली लपटन माँ लह-लह लहके॥

माटिव चमकैं लाग सुनौली सोभा बगरी।
इंद्रपुरी से अनुपम ह्वैगै हमरी नगरी॥
कंचन ह्वैगै आपन अउर बिरानिव बखरी।
पानिव ह्वैगा सोन सुनौली ह्वैगै गगरी॥

13-9-1951

रोटी

जब रोटी पर संकट आया,
तब भूखे ने द्रोह मचाया।
राज पलटकर रोटी लाया,
रोटी ने इतिहास बनाया॥

12–11–1951

ट्रूमैन

होगा ट्रूमैन अपने घर का, सबसे भारी ईश्वर होगा।
उससे बढ़कर और न कोई जनता का कटु दुश्मन होगा॥
उसके चक्कर में जो आया, मक्कर में जो उसके आया।
उसने अपना पेट कटाया, हाथ कटाया, प्राण गँवाया॥

15–11–1951

किसानी गाना

जमीदार की नहीं, न राजा की है धरती,
अब है आज हमारी धरती।

जमीदार ने लूट मचाई हर ली धरती।
राजा ने भी लूट मचाई हर ली धरती॥
हमें किया बेधरतीवाला धर ली धरती।
डाकू और लुटेरों के घर पहुँची धरती॥

जमीदार की नहीं, न राजा की है धरती,
अब है आज हमारी धरती।

जमीदार ने खूब दुहा है अब तक धरती।
राजा ने भी खूब दुहा है अब तक धरती॥
कर उगाह कर डाला वृद्धा जर्जर धरती।
हत्यारों के हाथ गाय-सी तड़पी धरती॥

जमीदार की नहीं, न राजा की है धरती,
अब है आज हमारी धरती।

पूर्व पुरातन परम्परा से माता धरती।
पिता पिता के पूर्व पिता की माता धरती।
हम धरती के पुत्र हमारी माता धरती।
आदिकाल से यह किसान की माता धरती॥

जमीदार की नहीं, न राजा की है धरती,
अब है आज हमारी धरती।

हम जोतें कोमल बन जाए माता धरती।
हम बोयें अंकुर उपजाए माता धरती॥
हम सींचें श्रम-जल लहराए माता धरती।
अन्न अन्न ही हमें लुटाए माता धरती॥

जमीदार की नहीं, न राजा की है धरती,
अब है आज हमारी धरती।

29-1-1952

चिन्ता की रात

रात चुप है,
दूर, घंटों दूर दिन है!
सूर्य का पथ,
रश्मि की रज,

राग-भीनी वात् चुप है!
भूमि चुप है,
नीर चुप है,
व्योम का विस्तार चुप है,
दूर-ओझल स्वर्ण का जलजात चुप है!

मंद, कर्कश,
तीव्र, धीमे,
कर्म की झनकार चुप है!

विश्व चुप है,
विश्व का वन-पुंज चुप है;
नीड़, पंछी, पंख चुप है;
कोयलों की आग चुप है,
राष्ट्र का मंतव्य चुप है;
मेमनों-सा
सिंधु का संवाद चुप है!
श्वेत पत्थर की हथेली में
नया निर्माण चुप है!

शक्ति का सौन्दर्य,
जीवन की प्रबल अनुभूति चुप है;
साहसिक बल, वीर्य चुप है;
ओठ का रण-रोष-भाषण,
वक्ष का विश्वास-वादन,
रक्त की ललकार चुप है!

ताज चुप है,
अश्रु की मुमताज चुप है,
मोम की दीवार में
उर की दहकती आग चुप है!

धर्म की ध्वनि,
मंदिरों की गूँज चुप है;

बुद्ध का निर्वाण,
करुणा-कूल चुप है!

एक बालक नया जन्मा
पालने में सो रहा है,
स्वप्न शैशव के सुनहरे देखता है;
बादलों का इन्द्रधनुषी केतु लेकर,
मेरु की हिम-चोटियों पर दौड़ता है;
हंस पर आरूढ़ होकर
मानसर में तैरता है;
दीप्त मणियाँ बीनता है,
कोष अपना पूरता है,
फूल फूले शीश पर रख,
बर्फ के साम्राज्य का सम्राट् बनकर,
जुगनुओं की चाँदनी को ब्याहता है;
किन्तु आफत का सबेरा देख होते,
बँधी मुट्ठी,-
तने सीने देख बजते,
क्रान्ति की आवाज़ सुनकर चौंकता है।

जाग पड़ता है नया शिशु पालने में,
और रोता है बहुत भयभीत होकर!

आंग्ल-अमरीकी पुतलियाँ-
'दूध' लेकर दौड़ती हैं;
मोह का साम्राज्य लेकर,
स्वप्न के सम्राट को पुचकारती हैं!

आह, यह मैं देखता हूँ,
घोर चिन्ता की धुरी में घूमता हूँ।
और इस चुप रात में दुख झेलता हूँ;
चाहता हूँ-
देश को अपने हृदय से मैं लगा लूँ,
मैं इसे अपना बना लूँ,

प्यार से पालूँ,
सकल समृद्धि का स्वामी बना लूँ,
आंग्ल-अमरीकी पुतलियों को भगा दूँ
रात के बदले चहकता प्रात लाऊँ!!

23-2-1952

मैं

मैं जागता रहूँगा,
झनकारता रहूँगा,
हर तार की तड़प से ललकारता रहूँगा।

मैं जागता रहूँगा,
फन मारता रहूँगा,
हर सिंधु की लहर से फुफकारता रहूँगा।

मैं जागता रहूँगा,
धनु तानता रहूँगा,
हर तीर की तड़ित से भ्रम काटता रहूँगा।

मैं जागता रहूँगा,
स्वर साधता रहूँगा,
हर गीत की गमक से गुंजारता रहूँगा।

23-3-1952

जन-गर्जन

यह न होगा
लेखनी से
यह न होगा

लेखनी
अपनी नहीं
सेना बनाए
जंगजू
होकर नहीं
दुश्मन हराए

यह न होगा
लेखनी से
यह न होगा

लेखनी
गरदन झुकाए
सिर कटाए
कायरों की
माँद में ही
झूल जाए
यह न होगा
लेखनी से
यह न होगा

फूल बोएँ
शूल काटें
पेट काटें
रोटियाँ
रूठी रहीं
हम धूल चाटें
यह न होगा
लेखनी से
यह न होगा

ज़िन्दगी की
आन हारें
ज्ञान हारें
आँसुओं से

आग के
कुंतल सँवारें
यह न होगा
लेखनी से
यह न होगा

हाथ की
हम नागफनियाँ
मत पसारें
मौत के
मुँह में तमाचा
हम न मारें
यह न होगा
लेखनी से
यह न होगा

पोत
जनता का
लहर में डगमगाए
सूर्य
जैसे डूब जाए
यह न होगा
लेखनी से
यह न होगा

12/14–4–1952

इंकलाबी गीत

सच है जीना,
प्रिय है जीना
लेकिन जीना

जब तक जीना–
इंसानों के हित में जीना,
आँधी पीकर आँधी बनना
टक्कर लेते देते चलना,
करना चोटें तड़तड़ करना,
पर्वत का सिर भंजन करना,
आशा से नव रचना करना,
ज़्यादा सच है
ज़्यादा प्रिय है।

सच है जीना
प्रिय है जीना
लेकिन जीना
जब तक जीना–
सौ घोड़ों के बल से जीना,
बिजली बनकर घर-घर हँसना,
गाँव नगर को उजियर करना,
हरना सबके तम को हरना,
तन को मन को छवि से भरना,
पृथ्वी का भूगोल बदलना,
ज्यादा सच है
ज्यादा प्रिय है।

3-5-1952

नव जागरण[1]

न मारे मरा है न मारे मरेगा
नए जागरण में शुभाशा भरी है।
कई बार सूखी कई बार उजड़ी
मगर दूब फिर भी हरी की हरी है॥

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

नदी का किनारा बहुत है पुराना,
मगर ज़िन्दगी की रवानी नई है।
जमाना बहुत हो चुका है पुराना
मगर आदमी की कहानी नई है॥
सबेरा अँधेरे से लड़ने लगा है
हमारे घरों में उजाला भरेगा।

1–11–1952

ढोल बड़ा बोला रे![1]

ढोल बड़ा बोला रे।
गेहूँ और रुई मिली
टूटी हुई सुई मिली
दान है अमोल रे।
ढोल बड़ा बोला रे।
गेहूँ जब हाथ पड़ा
पाया गया बड़ा सड़ा
पोल भरी खुली रे।
ढोल बड़ा बोला रे।
रुई मरी पाई गई
लाश सड़ी लाई गई
देखो आँख खोल रे।
ढोल बड़ा बोला रे॥

2–11–1952

सूरज का पथ[2]

जीवन नहीं भयानक अथ है

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

अथ है वह नर्तन का अथ है।
गीतों का रागों का अथ है
अथ है वह गुंजन का अथ है॥

जीवन नहीं अँधेरा पथ है
पथ है वह कारज का पथ है।
आशा का आभा का पथ है
पथ है वह सूरज का पथ है॥

4-11-1952

मुक्त युवती

जब अदालत पर चढ़ी
युवती चली बाहर निकलकर,
दुष्ट भ्रष्टाचारी पति के मित्र दौड़े
अपहरण के हेतु बल के बोंग लेकर!
किन्तु युवती का युवक-प्रेमी गठीला नौजवान,
आठ साथी साथ लेकर,
लाठियाँ बरसा चला बौछार जैसी,
हो गया संग्राम खासा!
धूर्त पति को चोट आई।
और उसके मित्र भू पर गिरे घायल!
खून खच्चर से गई मर लोकनिंदा!
ब्याह टूटा,
ब्याह का व्यभिचार टूटा,
दुष्ट भ्रष्टाचार का सिर हाथ टूटा।
प्रेमिका ने प्रेम का वर वक्ष जीता।
आततायी पति गया आहत हृदय घर!

26-11-1952

''चौड़ा'' साँड़[1]

''चौड़ा'' साँड़ बली तन गामा
अन्न सूँधते घूमा-घामा
बस्ती में जब मिला न दाना
बाहर को चल दिया सयाना

सूने समय खेत में हैला
गेहूँ-चना खूब था फैला
खाया उसने इतना खाया
कभी न उसने जितना खाया।

लेकिन जब वह चलने को था
बाजी मारे भगने को था।
खेतिहर ने आ लट्ठ जमाया
घेर-घार कर कैद बनाया।

भूखा मानव भी ऐसा है
भूखे ''चौड़ा'' ही जैसा है
खाता है मारा जाता है
कारागृह में दुख पाता है।

27-11-1952

क्रान्ति-मशाल[2]

मैंने सत् को सत्य कहा है,
और असत् को झूठ कहा है,
जीवित हाथों से जीवन की
और जगत् की मूठ गहा है।
मैंने श्रम को शक्ति कहा है,

1.2.शीर्षक संपादक द्वारा

और अश्रम को काल कहा है,
करनी करने को, लड़ने को,
युग की क्रान्ति-मशाल गहा है।

30-11-1952

इलियाटी साहित्यकारों के प्रति

मैंने देखा और पढ़ा है तुमको बारम्बार।
अवचेतन का उपचेतन का गाते बंटाधार॥
गाते बंटाधार लगाते नारा धोबी-घाट।
साहित्यिक मृत्-पिंड बनाते चलते खोटी बाट॥
मार तुम्हारे ये इलियाटी चौपटवादी धैने।
जीवन का भूगोल मिटाते हरदम देखे मैंने॥

वार नहीं होता है तुमसे होता है व्यभिचार।
जीवन को तुम ताप चुके हो मातम के अवतार॥
मातम के अवतार तुम्हारी काया है कमनीय।
किन्तु तुम्हारे मुरदा मन की माया है दयनीय॥
यार जमाना जनवादी है, लिखना है हथियार।
हार नहीं सकता जो लिखकर मार रहा है वार॥

8-12-1952

नई किताबें

नई मशीनें नई किताबें छाप रही हैं,
बगुलों के पंखों-सा सुन्दर उजला कागज,
दूध-मलाई-सा चिकना है!

अंधकार के लावारिस-से 'बेबी' अच्छर
सोए, खोए, उनके अन्दर बंद पड़े हैं!

मुख्य पृष्ठ पर
हर किताब के,
लावारिस बच्चों की माता
कामुक अंगों को दिखलाकर,
जन-ग्राहक को बुला रही है!
आज बहुत सस्ती बिकती है
घातक संस्कृति!!

13-2-1953

लेखक की गद्दारी[1]

हाथ बेचकर कलम चलाना,
और कलम से जखम बनाना,
यह लेखक की गद्दारी है
खून चाटकर धरम कमाना॥

14-4-1953 (रात्रि, बाँदा)

निर्माण का गीत

आओ रचना रचाएँ,
चारु चातुरी दखाएँ,
ज्ञान-कर्म की भुजाएँ, वर्त्तमान को झुलाएँ,
स्वर्ग भूमि को बनाएँ,
सुख पाएँ दीन दुखिया।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

आओ सपना सजाएँ,
उसे धूल से उठाएँ,
मोरपंख से सजाएँ, प्रेम-बाँसुरी बजाएँ,
रोम-रोम को झुमाएँ,
नाच जाए मनबसिया।

आओ बगिया लगाएँ,
फूल-पाँखुरी खिलाएँ,
पात-पात को बजाएँ, राग-रागिनी जिलाएँ,
सूर्य-चन्द्र मुस्कुराएँ,
रंगमंच बने दुनिया।

15-4-1953

अब न आदमी युद्ध करेगा!

फौजीवर्दी पहन अकड़कर,
नहीं धरा पर पाँव धरेगा।
छाती से बंदूक लगाए,
नहीं स्वजन के प्राण हरेगा॥

अब न आदमी युद्ध करेगा।

पत्नी, पुत्र, पिता को फिर से
आत्मिक प्रेम प्रदान करेगा।
पीड़ित लोगों के जीवन में,
जीने का अरमान भरेगा॥

अब न आदमी युद्ध करेगा।

लोकतंत्र के रचनाक्रम में,
हाथों का श्रमदान करेगा।

जन-जीवन की लोक-सभा में,
शुद्ध हृदय से गान करेगा॥

अब न आदमी युद्ध करेगा।

आशा से, भाषा से अपनी,
धूप, हँसी से प्यार करेगा।
आहत गाँव नगर धरती का,
स्वर्गोपम शृंगार करेगा॥

अब न आदमी युद्ध करेगा।

4-5-1953 (रात्रि, बाँदा)

दरोगा की दुलहिन[1]

दरोगा की दुलहिन को आया बुखार
कि जैसे पयोनिधि में आया हो ज्वार
दरोगिन का काँपा कुन्दन शरीर
कि जैसे कपोतिन हो कँपती अधीर

दरोगाजी दौड़े दरोगिन के पास
दरोगिन को देखा तड़पते उदास
बड़ी जोर से वे मचाते पुकार
जनाने से दौड़े कि जैसे बयार

सिपाही को भेजा कि जा अस्पताल
लिवा लाओ डाक्टर को बीते न काल
दरोगिन की हालत थी बिलकुल खराब
दया के भिखारी थे जालिम ज़नाब

1. शीर्षक संपादक द्वारा

चले आए डाक्टर, था पैसे का जोर–
कि खींचा हो जैसे दरोगा ने डोर
दवा दी गई और उतरा बुखार
कि जैसे उतरता है सागर का ज्वार

कमाए थे पैसे कई सौ हजार
भरा था तिजोरी में धन बेशुमार
दरोगा ने दौलत से मारा बुखार
दरोगिन को तज के सिधारा बुखार

8–7–1953, बाँदा

आत्मवाणी

फैली है धूप,
मेरी फैली है चादर
चादर को धोएँगे
भादों के बादर
बादर की बूँदों में
होता है सागर
सागर से धोएँगे
जीवन का काजर

10–7–1953

दीप[1]

अब दीप जले, अब दीप जले,
नव–कुन्द–कली–सा प्रदीप जले।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

छवि का अँखुवा तम से निकले,
वर बेसर के मणि-सा झलके॥

अब दीप जले, अब दीप जले,
अवनी में प्रकाश-प्रदीप जले।
तम-तोम गले द्युति से पिघले,
युग-सत्य पिए अनुराग पले॥

21-7-1953

यथार्थ और काल्पनिक सत्य

कट गई है डाल,
लेकिन पेड़ पर ही-
डाल अब भी लगी दिखती!

शून्य है वह ठौर,
लेकिन शून्य में भी-
पेड़ की वह बाँह दिखती!

पेड़ की वह डाल,
कवि की भावना में-
पूर्ववत् अब भी लगी है!

कवि उसी को देखता है,
वह वहीं है,
फूल-पत्तों से लदी है।

अनमना है पेड़,
डाली अनमनी है,
किन्तु कवि ही मुदमना हूँ॥[1]

29-7-1953, रात्रि, बाँदा

---

1. होना चाहिए 'किन्तु कवि हूँ मुदमना हूँ' (सं०)

छिंगुली की छाया

लम्बी-चौड़ी है मेरी छिंगुली की छाया।
इस छाया के सुप्तलोक के अंतराल में,
मेरा यह अस्तित्व अकेला खो जाता है॥

काजल ओढ़े बादल के हाथी पर चढ़कर,
इस छाया के महामार्ग के आर-पार में,
मेरा जीवन अन्त न पाकर खो जाता है॥

मेरी छिंगुली की छाया का यह संवत्सर,
बुझी राख के बंदीघर के अंधकार में,
घनीभूत चिन्ता के नेजे बो जाता है॥

29-7-53, रात्रि, बाँदा

देबी के बैल[1]

देबी के बैल कोई खोल ले गया।
रस्सी समेत कोई चोर ले गया॥
बेटों की जोट कोई मार ले गया।
आँखों में आँसू की धार दे गया॥

काली थी रात कोई भाग्य ले गया।
सोते में कोई अभाग्य दे गया॥
देबी के हाथ कोई काट ले गया।
जीवन को कोई कपाट दे गया॥

जोतेगा खेत कौन? नाश हो गया।
सूने हैं खेत सर्वनाश हो गया॥

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

देबी का चौपट स्वराज्य हो गया।
चोरी के मारे कुराज्य हो गया॥

आँसू की धार थोड़ी देर में रुकी।
ऊपर को आँख थोड़ी देर में उठी॥
बीवी ने दाम कोई चार सौ दिए।
देबी ने बैल नए मोल ले लिए॥

देबी को, गृहणी को शोक नहीं है।
गहनों की बिक्री का क्षोभ नहीं है॥
बैलों की जोट नई खेत में चली।
माटी से सोना उबारने चली॥

17-10-1953, सायं चार बजे

गीत

प्राण को हैं प्यारी धूल-धाम की कहानियाँ,
भूख-प्यासहारी ग्राम-ग्राम की कहानियाँ।
भोग की कहानियाँ प्रमोद की कहानियाँ।
व्यंग की कहानियाँ विनोद की कहानियाँ॥

प्राण को हैं प्यारी अश्रु-हास की कहानियाँ,
रूप से सँवारी चन्द्रहास की कहानियाँ।
ओज की कहानियाँ मनोज की कहानियाँ,
छोह की कहानियाँ विछोह की कहानियाँ॥

प्राण को हैं प्यारी घास-फूस की कहानियाँ,
याद हैं हमारी माघ-पूस की कहानियाँ।

धीर की कहानियाँ अधीर की कहानियाँ,
कुंज की कहानियाँ कुटीर की कहानियाँ॥

प्राण को हैं प्यारी आन-बान की कहानियाँ,
शीश से सँवारी प्रान-दान की कहानियाँ।
जीत की कहानियाँ अजीत की कहानियाँ,
गीत की कहानियाँ अगीत की कहानियाँ॥

19-10-1953, रात्रि, बाँदा

तारा

कहते हैं मुझको क्रान्तिदूत हूँ तुम्हारा,
मैं हूँ व्योम-तारा।
रात के अँधेरे से लड़ता नहीं हारा,
बार-बार मैंने तीर किरनों का मारा,
तोड़ी अंध कारा॥

कहते हैं मुझको शान्तिदूत हूँ तुम्हारा,
मैं हूँ नैन-तारा।
शोक के अँधेरे में डूबा नहीं हारा,
बार-बार मैंने तुम्हें चूमा है निहारा,
दी है ज्योति-धारा॥

कहते हैं मुझको प्रेमदूत हूँ तुम्हारा,
मैं हूँ दिव्य तारा।
मृत्यु के अँधेरे में खोया नहीं हारा,
बार-बार मैंने तुम्हें खोजा है दुबारा,
प्राणों से सँवारा॥

20-10-1953, रात्रि, बाँदा

निर्धन-रत्नाकर

रोता हूँ-
जैसे रोता है शाश्वत सागर,
भग्नाकुल भूतल के भय से कायर कातर!
मेरे जीवन का होता है पागल शोषण,
काँटों से मेरा होता है घायल पोषण!
मैं हूँ, मेरा साथी है मेरा कटु क्रन्दन,
पीता हूँ विष, होता है मेरा कटु चुम्बन!!

आँसू हूँ,
मैं आँसू का हूँ शाश्वत सागर!
निर्धन हूँ यद्यपि कहलाता हूँ रत्नाकर!!

24-10-1953

जिन्दगी को गीत से गढ़ना पड़ेगा

कोई चाहे या न चाहे
रात-सी इस जिन्दगी को
प्रात-सा हँसना पड़ेगा
धूल-सी इस जिन्दगी को
फूल-सा खिलना पड़ेगा

कोई चाहे या न चाहे
मूक-सी इस जिन्दगी को
शंख-सा बजना पड़ेगा
पंगु-सी इस जिन्दगी को
वायु-सा चलना पड़ेगा

कोई चाहे या न चाहे
बर्फ-सी इस जिन्दगी को
ताप से गलना पड़ेगा

आग से, आलोक से–
मधुमास से पलना पड़ेगा

कोई चाहे या न चाहे
जेल–सी इस जिन्दगी को
बाज–सा उड़ना पड़ेगा
मृत्यु से नव आदमी की
बाँह को लड़ना पड़ेगा

कोई चाहे या न चाहे
शून्य–सी इस जिन्दगी को
मोद से मँढ़ना पड़ेगा
पिंड–सी इस जिन्दगी को
गीत से गढ़ना पड़ेगा

कोई चाहे या न चाहे
बीज–सी इस जिन्दगी को
वृक्ष–सा उगना पड़ेगा
फूल से, रसदार फल से
नित्य ही लदना पड़ेगा

25–10–1953, दिन, बाँदा

नया इंसान[1]

आदमी ने प्रेम से भगवान को पत्थर बनाया
और उनके सामने अभिशप्त हो मस्तक झुकाया
मैं नहीं ऐसे निठुर पाषाण को मस्तक झुकाता

आदमी ने शक्ति से इंसान को शासक बनाया
और उसकी लोभ–लक्ष्मी के लिए शोणित बहाया
मैं नहीं ऐसे बधिक शैतान को शासक बनाता

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

आदमी ने धर्म से ईमान का दीपक जलाया
और उस ईमान से हैवान होकर डगमगाया
मैं नहीं ऐसे क्षणिक ईमान का दीपक जलाता

आदमी ने भ्रान्ति से परलोक का नाटक रचाया
और उस परलोक से इस लोक का वैभव मिटाया
मैं नहीं ऐसे घृणित परलोक का नाटक रचाता

मैं नया इंसान हूँ प्राचीन को घन से हनूँगा
मानवोचित सभ्यता की शक्ति का दर्पण बनूँगा॥

6-11-1953, रात्रि, बाँदा

तुम भूल सको तो भूलो

तुम भूल सको तो भूलो
उस युवती को जो तुमको
अपनी उँगली से छूकर
बिजली दौड़ा जाती है
फिर मिलने का वादा कर
जल्दी ही खो जाती है
जैसे वह कोई पिन हो।

तुम भूल सको तो भूलो
उस वंशी को जो तुमको
वासंतिक स्वर में गाकर
लय से मोहित करती है
चट्टानों के माथे पर
शीतल चन्दन मलती है
जैसे वह कोई सुध हो।

तुम भूल सको तो भूलो
उस फूलों की माला को

जो आभूषण बनती है
उर पर झूला करती है
लेकिन जो प्यारे दिल को
अनजाने में डसती है
जैसे वह कोई अहि हो।

तुम भूल सको तो भूलो
उस बादल को जो तुमको
जल का सागर दिखलाकर
बेबरसे हट जाता है
तन को मन को ललचाकर
विह्वल प्यासा रखता है
जैसे वह कोई मरु हो।

तुम भूल सको तो भूलो
उस पहिए को जो तुमको
हरदम चक्कर में रखकर
निशिदिन कुचला करता है
कुछ मोह नहीं करता है
बलिदान किया करता है
जैसे तुम कोई कण हो।

7–11–1953

देश मेरा गान गाए[1]

देश मेरा गान गाए
मर्म ऐसा गुनगुनाए
कर्म सोया जाग जाए
ईंट–पत्थर प्रान पाए
रूप की बस्ती बसाए
देश मेरा गान गाए

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

मर्म ऐसा गुनगुनाए
बाहु-बल में ओज आए
आदमी सत् खोज लाए
सत्य शिव सुन्दर बनाए

देश मेरा गान गाए
मर्म ऐसा गुनगुनाए
मौत भी उठ मुस्कराए
मानवी सम्मान पाए
ज्ञान बोए रवि उगाए

देश मेरा गान गाए
मर्म ऐसा गुनगुनाए
देश व्यापी शान्ति आए
मृत्यु आना भूल जाए
ज्योति जीवन जगमगाए

7-11-1953, बाँदा

जिन्दगी से मुकरना[1]

चाँदनी पीना,
चकोरों की तरह शशि को निरखना,
काव्य के इस सत्य से अस्वस्थ हो जग में विचरना,
भूल करना है भयावह,
जिन्दगी से है मुकरना।

यामिनी के
कंज के उर में मुँदे आनन्द करना,

1. शीर्षक संपादक द्वारा

रश्मि की तलवार तजकर म्यान में मकरंद भरना,
भूल करना है भयावह,
जिन्दगी से है मुकरना।

सभ्यता के
हाथ में जग-ज्योति के दीपक न धरना,
कर्म की झनकार से निर्माण को व्यापक न करना,
भूल करना है भयावह,
जिन्दगी से है मुकरना।

त्याग तप के
सूरमों का डायरी वर्दी पहनना,
राष्ट्र के नव अंकुरों को बालपन में ही मसलना,
भूल करना है भयावह,
जिन्दगी से है मुकरना।

8-11-1953, रात्रि, बाँदा

अभिशाप जग का[1]

एक जोते
और बोए, ताककर फसलें उगाए,
दूसरा अधरात में काटे उन्हें अपनी बनाए,
मैं इसे विधि का नहीं, अभिशाप जग का जानता हूँ।

एक रोटी
के लिए तड़पे सदा अधपेट खाए,
दूसरा घी-दूध-शक्कर का मज़ा भरपेट पाए,
मैं इसे विधि का नहीं, अभिशाप जग का जानता हूँ।

एक बल्कल
वस्त्र पहने लाज अपनी को गँवाए,

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

दूसरा बहु वस्त्र पहने छिद्र अपने सौ छिपाए,
मैं इसे विधि का नहीं, अभिशाप जग का जानता हूँ।

एक विद्या
के लिए व्याकुल रहे, पुस्तक न पाए,
दूसरी विद्या पढ़े, छल-छंद से सोना कमाए,
मैं इसे विधि का नहीं, अभिशाप जग का जानता हूँ।

मैं नया इंसान हूँ अभिशाप को खंडित करूँगा।
शाप के प्रतिपालकों को न्याय से दंडित करूँगा॥

8-11-1953, रात्रि, बाँदा

सूर्योदय

भानु हो रहा उदय,
कृशानु बो रहा।
भूमि का किसान आज
भानु हो रहा!!

ज्योति से जुती हुई-
उदार है धरा।
एक-एक बीज का
भविष्य है हरा!!

भोर हो रहा नया,
निहोर हो रहा।
मोरपंख खोल के
विभोर हो रहा!!

7-11-1953

सदाबहार

जड़ें भूमि में हैं गड़ाए खड़ा।
महाबाहुओं का विटप है बड़ा!!
लड़ा आँधियों से, हमेशा लड़ा।
न हारा, न टूटा, न पीला पड़ा!!
नए फूल, फल, पात से है लदा।
जवानी वसन्ती रही है सदा॥

18-11-1953

शान्ति का गीत

उजाला न रूठे, अँधेरा न आए।
युगान्तर सबेरा करे मुस्कुराए॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

कली धूप पीकर पली जो पवन में,
खिली है हमारे-तुम्हारे नयन में,
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

धरा प्यार की लोरियाँ गुनगुनाए।
हवा का हिंडोला हृदय को झुलाए॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

हवा में हिलें धान के पेड़ झूमें।
बड़े प्रेम से एक को एक चूमें॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

नदी का बजे जल मधुर से मधुरतम।
कि नाचे लहर की गुजरिया छमाछम॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

करोड़ों गगन के चमकते सितारे,
हमारे दियों पर रहें प्राण वारे॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

दिगम्बर दिशाएँ स्वयंबर रचाएँ।
भुजाएँ पुरुष की प्रकृति हो सजाएँ॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

सुधाकर कलाधर धरा पर उतरकर,
कलाएँ ललित से बनाए ललिततर॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

कबूतर दिवस के उजेले परों के,
रहें आत्मसंगी हमारे घरों के॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

मशालें चलें, चीर डालें, शिलाएँ।
उजाला जिए मुस्कुराएँ दिशाएँ॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

रुई जो मुलायम धुनी जा रही है,
हमारे लिए दीर्घ दुख पा रही है॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

परित्याग कर दे भिखारी पराश्रय।
कुदाली चलाए, न बैठे निराश्रय॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

कहानी बने जिन्दगी की कहानी।
नए आदमी की निखरती जवानी॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

नई आग ही दाल रोटी पकाए।
पड़े पेट में पत्थरों को पचाए॥

इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!
पिया की पुजारिन मिले जो पिया से।
नदी-सा उमड़ के छलकते हिया से॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

रंगीले खिलौने नजर में समाएँ।
मिलें लाड़लों को हृदय को चुराएँ॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

नए नीड़ पक्षी बनाए हजारों।
पखेरू नए जन्म पाएँ हजारों॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

न अन्याय जीते, न नव न्याय हारे।
प्रवंचक नहीं हों युधिष्ठिर हमारे॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

न नारी बजारू बने मान खोए।
न पर्यंक में नाग के साथ सोए॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

करोड़ों करों से बहे कर्म-धारा।
धरा हो किनारा, गगन हो किनारा॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

अमंगल न पल हो, न मानस विकल हो।
सदा कर्म, कल्याण, मानव सफल हो॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

मुँदे पंकजों की खुले नाट्यशाला।
सुखी आदमी की हँसे भाग्यशाला॥
इसी के लिए शान्ति के गीत गाओ!

30-11-1953, बाँदा

आँख दुखों से आँज रही है[1]

बारह बरस व्यथा में बीते
तेरहवें में पाँव धरे है।
पीर हृदय में, नीर नयन में,
साँसों में संताप भरे है॥
दम्भक ताड़ित और प्रताड़ित
शैशव का अभिशाप लिए है।
फूलों के नादान अधर से
शूलों के अपमान पिए है॥
माता और पिता से वंचित
घर घर बरतन माँज रही है।
सात बरस से साँझ-सकारे
आँख दुखों से आँज रही है॥

11-12-1953

घर का अनुभव

नौ पेटों से पलने वाले टूटे घर में
जब सनेह से सजी स्वामिनी किसी एक दिन
गेहूँ का आटा परात-भर गूँथ-गूँथकर
गोल लोइयों की गुदार रोटियाँ बेलती,

जब वे बेली-अलबेली सुकुमार रोटियाँ
एक-एक कर तप्त तवे के ऊपर चढ़कर,
धीरज धारे अंग उघारे तप में तपतीं,
फिर अंगारों के सिंहासन पर विराजकर
पास हमारे आ जाती हैं चूल्हा तज कर;

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

जब बटलोई के पेटे में दाल खौलती
खौल-खौलकर बुद-बुद-बुद आग्रह करती
और स्वाद के बोल-बोलकर स्वाद खोलती;

जब अदहन में चाउर पड़ता और उबलता,
रामकरोनी चिन्नावर की महक उमँड़ती,
और हमारी नाकों के नथुनों में आती
कई दिनों के भूखे दिल को छू जाती है
गोभी कटने लगती है आलू के संग जब
दोनों का सम्बन्ध परस्पर हो जाता है,

और सिसकते हैं जब दोनों गरम आँच में,
हमें क्षुधातुर देख-देखकर कई दिनों से,
तब हम नौ की भूख-समस्या मिट जाती है
और हमें यह टूटा घर भी प्रिय लगता है,
तब हमको मालुम होता है हम भी कुछ हैं,
हमको भी निर्मित करना है टूटे घर को।

12-1-1954

खेतिहर[1]

उस खेतिहर से पूछो अपने खेतों में जो अन्न उगाता
गेहूँ चाउर और चने के कुनबे पर जो बलि-बलि जाता
हल की मुठिया जिसका बल है, हँसिया पर जो है इतराता
बढ़िया पैदा हुई फसल के हर दाने पर झूमा जाता
क्या वह चाहेगा दुनिया में फिर से कोई आग लगाए
उसके ऊपर या खेतों पर कोई हिंसक बम बरसाए
क्या वह देखेगा आँखों से फिर से कोई रक्त बहाए
उर्वर मिट्टी के नव जन्मे अंकुर असमय भस्म बनाए

1. शीर्षक संपादक द्वारा

मैं कहता हूँ : वह खेतिहर तो पूरी तरह विरोध करेगा
युद्ध-समर्थक हत्यारों की करनी का प्रतिरोध करेगा
सबसे पहले शान्ति-समर्थक उसका ऊँचा हाथ उठेगा
निश्चय साहस से सम्मानित उसका ऊँचा माथ उठेगा
वह अपनी जनता से अपने खेतों का संदेश कहेगा
युद्ध-विरोधी तैयारी में रण के दारुण क्लेश कहेगा
वह घहरेगा जैसे कोई मेघ घहरकर ललकारेगा
मैं कहता हूँ उसके बल से हत्यारों का दल हारेगा

18-1-1954

आदमी ज्योति से जगमगाता रहे[1]

गीत गाता रहे, गुनगुनाता रहे,
गीत से जिन्दगी झनझनाता रहे,
झूम जाता रहे, नाच जाता रहे,
आदमी मोद से मुस्कुराता रहे।

ज्योति पाता रहे, चमचमाता रहे,
ज्योति से जिन्दगी नव बनाता रहे,
तम मिटाता रहे, गम हटाता रहे,
आदमी ज्योति से जगमगाता रहे।

20-1-1954, रात्रि

श्रम ताप की समस्या सानंद मैं सहूँगा[2]

जो चाँद चमचमाता है प्रेम की डगर में
उस चाँद के लिए मैं संसार में रहूँगा
संसार के दुखों का आघात मैं सहूँगा
इंसान चमचमाता है प्रेम की डगर में

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

दो दीप दमदमाता है आग की दमक में
उस दीप के लिए मैं अंगार में रहूँगा
अंगार की जलन का संताप मैं सहूँगा
इंसान दमदमाता है आग की दमक में

जो फूल मुस्कुराता है भूल की धरणि में
उस फूल के लिए मैं रजरेणु में रहूँगा
रजरेणु के कणों का वनवास मैं सहूँगा
इंसान मुस्कराता है धूल की धरणि में

जो प्रात झिलमिलाता है रात के हृदय में
उस प्रात के लिए मैं तमतोम में रहूँगा
तमतोम की लहर का हर वार मैं सहूँगा
इंसान झिलमिलाता है रात के हृदय में

जो कर्म लहलहाता है शान्ति के सृजन में
उस कर्म के लिए मैं श्रमताप में रहूँगा
श्रमताप की तपस्या सानंद मैं सहूँगा
इंसान लहलहाता है शान्ति के सृजन में

21-1-1954, रात्रि

कर्जे की मार[1]

यह उधार खाते का जीवन
बढ़े ब्याज का बोझा लादे
राम-राज्य की नई सड़क पर
पाँव उठाए डगमग चलता!

कागज के कर्जे का कौरव
पाँच हाथ की लाठी ताने

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

बीच सड़क में राह रोककर
इंसानों को दंडित करता!

सच कहता हूँ यह हालत है
खूनी लाठी के लबेद से
बिना खून की हिंसा होती
कर्जे से जन-भारत मरता!

24-1-1954, रात्रि

मैं भूतल का स्वस्थ निवासी[1]

मैंने कब आकाश घेरकर,
भूमि-भाव को छोड़ा?
मैंने कब उस पार किसी से,
पल-भर नाता जोड़ा?

मैं भूतल का स्वस्थ निवासी,
शूल-फूल का भाई!
आग, हवा, पानी, पर्वत, से
मेरी परम मिताई!

31-1-1954

दयनीय दशा

दीर्घ देश के शस्य केश से,
स्वर्ण शाल शाद्वल प्रदेश से,
चिन्ता उलझी है,
और भूमि की माया मुरझी है।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

आशुतोष के इंदु-भाल से,
कंठ-कंठ के गीत-माल से,
कुंठा उलझी है,
और भूमि की शोभा मुरझी है।

3-2-1954

बदरा[1]

उड़ि रहे बदरा बरसि रहे बदरा
खेतिया का अँचरा परसि रहे बदरा
मोरे मन बसि रहे लसि रहे बदरा

5-2-1954

मोद तुम्हारा मस्तक चूमे[2]

तुम्हें हमारा नमस्कार है,
और हमारी मातृभूमि की शुभाशीष है।
देश तुम्हारा बलशाली हो,
और तुम्हारी प्यारी जनता,
दुख से कातर कभी न होवे;
फूल तुम्हारे पथ में फूलें,
मोद तुम्हारा मस्तक चूमे।
ऐसा कभी न सम्भव होवे,
तुम हमको हम तुमको भूलें॥

(चेक मित्र को पत्र में निराला जयंती के अवसर पर भेजा।)

11-2-1954, रात्रि

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

हम

हम अपना युग आप गढ़ेंगे!
धूप-हवा की
इस ढोलक पर,
हम मानव के मोद मढ़ेंगे!
गाते गीत,
बजाते जीवन,
हम उन्नति की ओर बढ़ेंगे!
स्वर्ण सदृश
उल्लास शिखर पर,
कोटि जनों के साथ चढ़ेंगे!
हम अपना युग आप गढ़ेंगे!!

12-2-1954

(जवाहर चौधरी को भेजा)

हमारे लिए[1]

हमारे लिए
ज़िन्दगी है समस्या।
दहन-पर्व है,
और दारुण तपस्या॥
हमें तो मिली है,
व्यथा की व्यवस्था।
जनम से मरन तक,
प्रलय की अवस्था!!

30-3-1954

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

मेरी धरती और मैं[1]

मेरी धरती मुझको बल दे
मैं धरती को अपना बल दूँ,
धरती मुझको जीवन-फल दे
मैं धरती को यौवन-फल दूँ
मेरी धरती अन्न उगाए
मैं धरती का दाना खाऊँ,
धरती मेरा तेज बढ़ाए
मैं धरती का यश फैलाऊँ

मेरी धरती फूल खिलाए
मैं फूलों का चुम्बन पाऊँ,
धरती मुझ पर फूल चढ़ाए
मैं धरती के शूल भुलाऊँ

मेरी धरती छवि बन जाए
मैं धरती का कवि बन जाऊँ,
धरती मुझको छंद सिखाए
मैं धरती को गीत सुनाऊँ

7-4-1954, रात्रि

निरालाजी की बीमारी के समय

(1)

सरकार का ख़जाना
सरकार के लिए है
हरगिज़ नहीं हमारे उपकार के लिए है
वह कार के लिए है
बदकार के लिए है
हरगिज़ नहीं हमारे बीमार के लिए है

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

(2)

सरकार की हुकूमत
व्यापार के लिए है
हरगिज़ नहीं हमारे आधार के लिए है
वह तार के लिए
बेतार के लिए है
हरगिज़ नहीं 'निराला' के प्यार के लिए है

(3)

सरकार का शिवाला
व्यभिचार के लिए है
हरगिज़ नहीं दुखों के उपचार के लिए है
वह यार के लिए है
बटमार के लिए है
हरगिज़ नहीं कला के करतार के लिए है

7-4-1954, दिन

गाँव

गाँव भी वह गाँव क्या जो धूल में सोया हुआ हो
शाप में संताप में दुर्भाग्य में खोया हुआ हो
नाश में नैराश्य में शोकाश्रु से बोया हुआ हो
देश ऐसे गाँव के अस्तित्व से उन्नत न होगा

गाँव भी वह गाँव क्या जो भूमि का भूषण नहीं हो
रूप से आलोक से आनन्द से नूतन नहीं हो
शक्ति से समृद्धि से संकल्प से चेतन नहीं हो
देश ऐसे गाँव के अस्तित्व से उन्नत न होगा

अस्तु ऐसे गाँव को हम चित्र सा चित्रित करेंगे
एक क्या प्रत्येक घर को रूप से रंजित करेंगे

प्रेम से कर्मण्य कर से जीवनी चित्रित करेंगे
गाँव के हम आदमी हैं, सूरमा हैं साहसी हैं

गाँव ऐसा गाँव होगा देखने में स्वर्ग होगा
उच्च अथवा निम्न श्रेणी का न कोई वर्ग होगा
प्रात के निर्माल्य के आलेख का ही सर्ग होगा
गाँव के हम आदमी हैं, सूरमा हैं साहसी हैं।

8-4-1954, रात्रि

हिन्दी वालों से 'निराला' की बीमारी के समय

(1)

कलाकार कविश्रेष्ठ 'निराला' की बीमारी,
हिन्दी जनता के हित में है चिन्ता भारी :
सूखे दायाँ पाँव प्रगति का दृढ़ व्रतधारी?
सूखे दायाँ हाथ लेखनी का अधिकारी?

(2)

कौन चलेगा चाल काल की सीमा तोड़े?
कर्मठ कवियों की हिन्दी में टोली जोड़े??
कौन लिखेगा काव्य आग का सूर्य उगाए?
जनता की आवाज़ छंद में पूर्ण उठाए?

(3)

वही एक कवि है हिन्दी का सबसे प्यारा,
सच्चाई से जिसने जीवन-काव्य सँवारा।
संघर्षों में वही रहा है शक्ति-सहारा,
उसके आगे झुक जाता है शीश हमारा॥

(4)

शासन के आसन पर बैठे हैं व्यभिचारी,
कहाँ उन्हें अवकाश करें कवि की रखवारी?
वोट जहाँ लेना होता है दौड़े जाते,
भारी-भरकम रकम पाँव को पूज चढ़ाते॥

(5)

डूब न जाओ लाचारी में हिन्दी वालों।
उसे उठाओ बीमारी से हिन्दी वालों॥
एक निराला मिला दूसरा नहीं मिलेगा।
ऐसा सूरजमुखी दूसरा नहीं खिलेगा॥

17-4-1954 (रात्रि)

दर्पण टूटे

गबड़ू की बीबी गंधू से आँख लड़ाती
गुड़ खाती नैनों के नोखे बान चलाती,
रसिया को अपने ओठों की शहद चटाती
गंधू की बाँहों में बँधकर प्यास बुझाती।

गबड़ू खेतों में मजदूरी करने जाता
सिर पर लादे दानों की गठरी घर लाता,
बीवी को बाँहों में भरने को अकुलाता
गबड़ू सज्जनता के मारे शीश झुकाता।

ऐसी नैतिकता का दर्पण जल्दी टूटे
कामुक दुर्बलता का बंधन जल्दी छूटे,
गबड़ू की बीवी गबड़ू को अंग लगाए
गंधू को पैरों की सूखी धूल चटाए।

24-5-1954

सेठजी[1]

सेठीजी के पास पूँजी का बड़ा तालाब है
प्यार पाने के लिए दिल सेठ का बेताब है

1. शीर्षक संपादक द्वारा

थैलियों का मुँह खुला है, लौडियों की चाह है
सेठ जी का भद्र जीवन आजकल गुमराह है

29-4-1954

विवेक[1]

जितना सत् है ग्रहण करूँगा
तन, मन, वाणी, और कर्म में
उसी सत्य का वहन करूँगा!
भीतर बाहर का कटु संकट,
निर्भय होकर चूर्ण करूँगा।
यज्ञ अधूरा पूर्ण करूँगा!!

मैं विवेक की क्षिप्र नदी हूँ।
गंगा-यमुना-सा उमडूँगा!
प्यासी धरती की अभिलाषा,
जीवन देकर मैं सींचूँगा!
नवसंस्कृति की नवलेवा से,
वैभव की फसलें जीतूँगा!!

14-8-1954

स्वार्थ-बल

बल निबल का तन सम्हाले,
यदि धरा से हो विकल तो मन सम्हाले,
मर रहे को फिर जिला ले;
अन्यथा वह निबल है
स्वार्थ में चाहे सफल हो,

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

किन्तु वास्तव में विफल है।
राष्ट्र ऐसे स्वार्थ बल से अब विकल है॥

17-9-1954

तुलसीदास[1]

तुलसी मुझको प्यारा है
इसलिए कि उसने जनता को
रामायण दिया, उबारा है
इसलिए कि उसने अवधी को
जन-जीवन दिया, सँवारा है
इसलिए कि उसने रावन को
शब्दों के शर से मारा है
इसलिए कि उसने सीता को
पावन कर दिया निखारा है

17-9-1954

दीवाली[2]

दीपक जले अँधेरे घर में।
मानव के आकुल अन्तर में॥
जैसे फूल खिले उवपन में।
चमके धूप भवन आँगन में॥

युग की आभा दीप जलाए।
घर की देवी पर्व मनाए॥
ज्योति हो घर द्वार हमारा।
प्रमुदित हो संसार हमारा॥

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

लावा लाई बालक पाएँ।
खाएँ, खेलें गाना गाएँ॥
दीवाली के दीप जलाएँ।
नभ के तारे पास बुलाएँ॥

19-9-1954

देश की बात

अब हमारे देश को अनुराग है
विश्व के हर देश से
जो हमारा
और अपना
और सब का चाहता उद्धार है
भूख, भक्षण, युद्ध के संहार से

अब हमारे देश को अनुराग है
विश्वव्यापी शान्ति से
जो हमारा
और सबका
और भू का चाहती उद्धार है
सर्वनाशी युद्ध के संहार से

अब हमारे देश को अनुराग है
विश्व के हर व्यक्ति से
जो हमारा
और अपना
और सबका चाहता निस्तार है
कर्म, कौशल कीर्ति के व्यौहार से

21-9-1954

भाव और ज्ञान[1]

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भाव
खे नहीं सकता हमारी नाव
यदि नहीं वह थामता पतवार
काटता है धार!
दिव्य से भी दिव्य ज्ञान
दे नहीं सकता हमें सुख-दान
यदि नहीं वह तोड़ता दीवार
खोलता है द्वार।

28-9-1954

प्यार का आलोक[2]

प्यार का आलोक
        मेरी आँख का आलोक है
मैं उसी आलोक से जन को जगाना चाहता हूँ
प्रात का आलोक
        मेरी आग का आलोक है
मैं उसी आलोक से जग को जगाना चाहता हूँ

क्रान्ति की झनकार
        मेरी शक्ति की झनकार है
मैं उसी झनकार से जन को जिलाना चाहता हूँ
शान्ति की गुंजार
        मेरी मुक्ति की गुंजार है
मैं उसी गुंजार से जग को जिलाना चाहता हूँ

देश का निर्माण
        मेरी देह का निर्माण है

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

मैं उसी निर्माण के सपने सजाना चाहता हूँ
नेह का निर्माण
मेरे नीड़ का निर्माण है
मैं उसी निर्माण के पखने लगाना चाहता हूँ

30-9-1954

धनाभाव में

वी० पी० का रुपया देना है!
खड़ा डाकिया देख सामने परेशान हूँ,
टका नहीं है!
चारों जेबों में खंडहर का सूनापन है,
पड़े हुए हैं पूरे पिचके,
मोटर के पहिए के नीचे जैसे दबके!!

कहा डाकिए से कल आना;
लेकिन कहने में ऐसा ज्यादा शरमाया,
सिमिट गया अपने में जैसे कोई केचुआ!!

साढ़े तेइस के अभाव में,
दिल गुलाब-सा मुरझ गया है,
हाथ-पाँव से लुंज हुआ हूँ;
सुस्त पड़ा हूँ,
जैसे कोई रक्त पी गया मेरे तन का!!

मैं मनुष्य हूँ
लेकिन रुपयों के अभाव में
महामूर्ख हूँ;
मेरी विद्या काम न आई!
मेरा जीवन निष्फल लगता!!
अपने घर में,
मैं ही अपना दुश्मन बनता!

घर के बाहर,
बीच सड़क में,
हाट और मेलों-ठेलों में
गुदड़ी का चील्हर लगता हूँ!!

मैं स्वराज्य के न्यायालय का
पंडित शुक हूँ,
नई-पुरानी बहुत नजीरें मुझे याद हैं,
लेकिन आज टके से टूटा
मैं शिव का टूटा पिनाक हूँ॥
मेरा बस्ता उलट गया है।
हवा धूल भर गई बहुत-सी
मिस्लें लेटी हैं मूर्छा में।
बेचारा मुंशी परास्त है।
अर्थ-युद्ध में मैं हारा हूँ-
बुरी तरह से!!

मैं वकील हूँ!
रात सरीखी काली अचकन
मैं पहने हूँ!
अन्धकार मुझसे लिपटा है!!
केवल पैरों में पाजामा
लंकलाट के-दिन-सा पहने,
टहल रहा हूँ आधा उजला,
आधा काला॥
सच पूछो तो,
धनाभाव में,
फटे जूत में गड़ी कील हूँ!!

जाने कब दुनिया बदलेगी?
जाने कब मुझको अभाव धन का न रहेगा?
जाने कब मेरी विद्या मुझको फल देगी?
जाने कब मैं जग जीतूँगा?

जाने कब मेरे शरीर में बल आएगा?
जाने कब मेरा, जीवन मुझको भाएगा?
यही सोच है–यही फिकर है!!
यह समाज यदि यहीं रहेगा,
तब निश्चय है–
साढ़े तेइस नहीं मिलेंगे,
और नहीं वी० पी० छूटेगी,
रोज डाकिया लौट जाएगा;
और एक दिन मैं स्वयं ही
अपनी वी० पी० कर जाऊँगा।
लेकिन अपनी बात छोड़कर,
जब देशों की प्रगति देखता
और सोचता,
जन-समाज से नेह जोड़ता,
उन्नति करते हुए–
दौड़त हुए राह पर लोग देखता,
धनाभाव में भी–
कलियों को खिलते पाता,
तब हुलास से,
जलतरंग-सा बज उठता हूँ;
रुपयों को ठेंगा दिखलाकर हँस पड़ता हूँ,
और यही कहने लगता हूँ,
मैं भी इनके साथ जिऊँगा,
मैं भी इनके साथ बढ़ूँगा,
मैं भी दुनिया को बदलूँगा,
कील नहीं, मैं फूल बनूँगा,
इस धरती की जन-संस्कृति का,
एक नया मेमार बनूँगा।

8-10-1954

प्रेमचंद

आज हर्ष की बीन बजाओ
प्रेमचंद का दिवस मनाओ;
अश्रु नहीं, शत् पुष्प चढ़ाओ,
अमर यशस्वी कथाकार की
कृतियों पर सर्वस्व लुटाओ,
प्रेमचंद के आगे अपने शीष झुकाओ!

9-10-1954

अभिन्न ही रहे बने

मंद
मधुर मंद,
झूठ और साँच में,
जीवन की आँच में,
स्वार्थ का पुलाव पका प्यार में
ताकते निहारते दुलार में!!

एक-एक बाल को सँवारते,
तार-तार तानते उतारते,
ताल और तान में समान बहे,
ऊँच-नीच राजनीति को गहे,
भिन्न-भिन्न रूप में अभिन्न ही रहे बने,
देश प्रेम में विशेष रूप से रहे सने॥

23-10-1954

जागरण

वन-वायु चली
जल-कम्प हुआ
निष्कम्प मुकुर हो गया तरल
स्वप्नस्थ सभा टूटी तट की।

वन-वायु चली
उद्वेल-हुआ
पय-पीन पटल हो गया चपल
सौ बार बजी तंत्री तट की।

वन-वायु चली
मन मस्त हुआ
मृतप्राय मनुज हो गया नवल
उत्फुल्ल हुई शोभा तट की।

1-11-1954

तारों की नगरी

तारों की नगरी है हीरों की नगरी
हीरों की नगरी है दीपों की नगरी
दीपों की नगरी है दूर बसी रे
याचक से वाचक से दूर बसी रे

तारों की नगरी है, आत्मा की नगरी
आत्मा की नगरी है आस्था की नगरी
आस्था की नगरी है दूर बसी रे
कंचन से कीचड़ से दूर बसी रे

तारों की नगरी है काँटों की नगरी
क्रीटों की नगरी है गीतों की नगरी

गीतों की नगरी है दूर बसी रे
आहों से राहों से दूर बसी रे

2-11-1954

डूबता है चाँद[1]

डूबता है चाँद, सूरज झाँकता है।
आदमी अब आग सूरज माँगता है॥
डूबता है चाँद, सूरज झाँकता है।
आदमी अब नाव, नीरज माँगता है॥

7-11-1954

यों नवल आलोक में

ज्यों नवल आलोक में
अवनी नहाए
जो तरल जलताल में
महिषी नहाए
देर तक डूबी रहे
बाहर न आए
लोल लहरों से तपन
तन की मिटाए
हाँकने जब कृषक आए,
हाँक लाए
दूध महिषी का दुहे
वरदान पाए
पान पय का वह करे
बल बुद्धि बढ़ाए
स्वस्थ हो, जीवन सफल
जग में बनाए।

7-11-1954

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

स्वर-संगम

काव्य के स्वर भी अमर हैं
भूमि के स्वर भी अमर हैं
काव्य के स्वर
भूमि के स्वर
यदि मिलें तो
जिन्दगी जन की अमर है

क्रान्ति के स्वर भी अमर हैं
शान्ति के स्वर भी अमर हैं
क्रान्ति के स्वर
शान्ति के स्वर
यदि मिलें तो
जिन्दगी जन की अमर है

रूप के कर भी अमर हैं
कर्म के कर भी अमर हैं
रूप के कर
कर्म के कर
यदि रचें तो
जिन्दगी बनती अमर है

7-11-1954

'गीतम' की प्रति नहीं मिली[1]

'गीतम' की प्रति नहीं मिली है
और न मिलने की आशा है
क्योंकि काव्य की कला तुम्हारी
विश्वमोहिनी शकुन्तला-सी

---

1. ''गौतम'' वीरेन्द्र मिश्र का गीत संकलन। शीर्षक संपादक द्वारा

कण्वाश्रम में खिली-पली है
और वहीं मधुकर गाता है

यदि मैं भी आखेटक होता
महाराज दुष्यन्त सरीखा
उस कानन में पहुँचा होता
और रूप-लावण्य देखता
अनायास आकर्षित होता
तो निश्चय शाकुन्तल पाता

3-12-1954

नए साल को सलाम

मेरा पहला लाल सलाम, नए साल को हो स्वीकार,
जो आया है सबके द्वार, पहने फूलों का गलहार,
जिसके स्वागत में गाता है, रण से रूठा यह संसार।

मेरा दूजा लाल सलाम, नए साल को हो स्वीकार,
जो जाता है हमें बिसार, त्याग अधूरा जग-व्यापार,
जिसके इतिहासी कर्मों ने होने दिया नहीं संहार।

मेरा तीजा लाल सलाम, शान्ति कपोत का स्वीकार,
जो आशा के पंख पसार, मानवता को रहे सँवार,
जो नीड़ों में पाल रहे हैं निर्माणों के नव अवतार।

मेरा चौथा लाल सलाम, जन-वीरों को हो स्वीकार,
जो युग के हैं पहरेदार, जन-सत्ता के प्राणाधार,
जिनकी करनी से होती है ऐटम बम की पूरी हार।

मेरा पाँचवाँ लाल सलाम, भारत माँ को हो स्वीकार,
जो हम पर है पूर्ण उदार, सब को सुख से रही निहार,
जो हम पर न्यौछावर होती, जिस पर हम होते बलिहार।

मेरा छठवाँ लाल सलाम, उस जनता को हो स्वीकार,
जिसका जीवन है हथियार, जिसका पानी है दमदार,
जो होती जाती फौलाद, लड़ते-लड़ते बारम्बार।

मेरा सातवाँ लाल सलाम, मजदूरों को हो स्वीकार,
जिनको लेना है युग-भार, कल की रचना है सरकार,
जिनके हाथों को हरना है, भीषण, शोषण, अत्याचार।

मेरा आठवाँ लाल सलाम, हलधर लोग करें स्वीकार,
जो बोते हैं युग-अंगार, और उगाते हैं युग-प्यार,
जिनके कारण हो जाती है, यह धरती भी सुषमागार।

मेरा नौवाँ लाल सलाम, सूर्यकान्त को हो स्वीकार,
जिनकी बादल-राग-पुकार, जन-जीवन की है ललकार,
लेकिन जो विष को पीते हैं, देते हैं उर की झंकार।

मेरा दसवाँ लाल सलाम, उन चित्रों को हो स्वीकार,
जो सत्तावन के इस पार, होते ही जाते साकार,
लेकिन जिनको रंग देना है, शोणित की देकर प्रिय धार।

1-1-1955

धरा[1]

यह धरा विधुरा नहीं है
यह नहीं विधुरा रहेगी
फूल से फल से सदा मधुरा रहेगी
प्राणदा अपरा रहेगी।

13-1-1955

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

कवि हमारा नहीं पागल

यह नहीं स्वीकार हमको :
आगरे में कवि हमारा
पागलों में रहे जाए।
और वह पागल कहाए।

वहाँ कोई वही जाए
जो बड़ा मंत्री कहाए,
सिरफिरी बातें बनाए
और सब को काट खाए।

कवि हमारा नहीं पागल,
नहीं पागल–नहीं पागल,
जो उसे पागल बताए
वही पागल–वही पागल।

उसे कोई नहीं पाता,
गीत वह बेजोड़ गाता,
देश को ऊँचे उठाता,
और मंत्री को लजाता।

रोग ने कवि को दबाया
इसलिए स्वर डगमगाया,
बात में उलझाव आया,
नहीं कोई समझ पाया।

इसलिए कुविचार बदलो,
आगरे की बात बदलो
गेंद सा सिर पर न उछलो,
भेज दो बाहर, न मचलो।

25–1–1955

यथार्थ[1]

पतझर में झर गए भ्रमों के पीले पल्लव
लेकिन सत्य यथार्थ खड़ा है वृहत् वृक्ष-सा
महामही के अन्तराल में मूल गड़ाए
और पसारे अपनी व्यापक विपुल भुजाएँ

इस यथार्थ का भौतिक जीवन निरावरण है
योगिराज शिव के समान ही निराभरण है,
दृढ़ कठोर, अपराजित समर-शूर-सा

10-3-1955

हिन्दी का वरद पुत्र निराला

(1)

हिन्दी का यह वरद पुत्र जो युवाकाल से
कलम पकड़ना सिखा रहा है नवागतों को
पदाघात सहता स्वयं संघर्ष दुखों के
धनाभाव में रहता गाता गीत धरा के
सीमाएँ अब भी दिगन्त की तोड़ रहा है
लोक-काव्य को ओज-मार्ग पर मोड़ रहा है
चाटुकार लेखक-कवियों के कुलाचार को
दुराचार को तुच्छ जानकर छोड़ रहा है

(2)

स्वस्थ सबल स्वाधीन रही है कवि की वाणी
और सदैव समर्थ रही है युग-कल्याणी
जल-तरंग-सी चली बजी मंजीर-मुरज-सी
वह गूँजी है जनहृदयों की अकादमी में
गाँव-गाँव की चौपालों के लोकायन में,

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

जहाँ सूर, तुलसी, कबीर के पद गूँजे हैं
वहाँ 'निराला' भी अपनी कविताएँ गाते
जन-जीवन के आत्म-तेज को जगा रहे हैं

(3)

यही एक वह है हिन्दी का सुभट निराला
जो अजेय लड़ रहा अपरिमित अन्यायों से
कोटि-कोटि सह रहा वार है पीड़ाओं के
और काव्य रच रहा रक्त की रेखाओं से
बार-बार पल-पल पुकार ललकार काल को
निराहार जर्जर शरीर दे रहा चुनौती
तरुण-अरुण तरुणों की टोली लिए साथ में
सूर्यकान्त गा रहा युगान्तरकारी गीता

(4)

किन्तु क्षोभ है और व्यंग की यही बात है
वही काव्य-साहित्य-कला की अकादमी में
ठौर नहीं पा सका राज्य की अनुकम्पा से
यद्यपि उसकी वाणी है भारत की वाणी
वहाँ पैठ पा गए अनेकों धूर्त बिसाती
जो कलंक के पाँव चाटते रहे हमेशा
लोभ-लाभ के लिए बेचते रहे लेखनी
कर्त्तव्यों से विमुख और जनता को भूले

(5)

अनजाना अपमान नहीं है यह शासन का
इसे भूलना सहज नहीं है हमको सबको
नहीं मिला आदर हिन्दी के महारथी को
मिला मान-सम्मान न जाने किसको-किसको
उठो, और लाचार करो, शासन से कह दो
अकादमी में युग के कवि को प्रथम बिठाए
स्वयं विभूषित हो महान कवि की सत्ता से
और हमें भी करे विभूषित वृहत् ज्ञान से

22/25-3-1955

लाल कमल

सारी रात तड़प कर तम में पीड़ित होकर रहने वाला
लाल कमल का फूल निशा में चिन्तित होकर रहने वाला
आने पर अरुणोदय के प्रभु-गंध लिए हिल उठने वाला
श्याम सरोवर के सीने पर-पानी पर खिल उठने वाला
काले भौंरों की टोली को बरबस पास बुलाने वाला
पंखुरियों से प्यार पिलाकर जीने और जिलाने वाला
हमको धरती और गगन के फूलों से ज्यादा प्यारा है
हीरे मोती और रतन के फूलों से ज्यादा प्यारा है
क्योंकि शहीदों के शोणित-सी लाली इसने तन में पाई
क्योंकि शहीदों के मानस की मस्ती इसने मन में पाई
क्योंकि इसी ने सबके हाथों हाथ पहुँचकर की अगुआई
क्योंकि इसी ने जन-जीवन की खुशबू सबके घर पहुँचाई
क्योंकि इसी ने सन सत्तावन की ज्वाला पहले सुलगाई
क्योंकि इसी ने वीर शहीदों को माला पहले पहनाई
क्योंकि इसी ने दण्ड-दमन से लड़ने की ललकार लगाई
क्योंकि इसी ने चैन-अमन के सपने की किलकार मचाई।
सन् सत्तावन फिर आता है गंध इसी से इसकी आई
अटपट संकट मँडराता है गंध इसी से इसकी आई
तन-मन चैन नहीं पाता है गंध इसी से इसकी आई
धन धीरज अब खो जाता है गंध इसी से इसकी आई।

10-8-1955

धरती को भूलो न[1]

धरती को भूलो न धरती के लाड़लो!
धरती की छाती-
यह छाती तुम्हारी है,
धरती की माटी

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

यह माटी तुम्हारी है,
छाती से, माटी से खूँटे उखाड़ लो!
धरती को भूलो न धरती के लाड़लो!!
धरती की माया–
यह माया तुम्हारी है,
माया की काया–
यह जाया तुम्हारी है,
जाया को जीतो गरीबी पछाड़ दो!
धरती को भूलो न धरती के लाड़लो!
धरती में रोटी है,
धरती में पानी है,
रोटी से, पानी से,
नाहर जवानी है,
नाहर जवानी के झंडे को गाड़ दो!
धरती को भूलो न धरती के लाड़लो!
धरती में जीना है,
धरती में सोना है,
धरती का जीवन
सलोना सलोना है,
जीवन की खेती को मेहनत से माँड़ लो।

28–8–1955

सूरज

रोज सुबह
पूरब से आता है
मेरे लिए
चाय गरम
केटली में लाता है
मुझको पिलाता
और सबको पिलाता है।

रोज शाम
पच्छिम को जाता है
वह तो एक बैरा है।

4–9–1955

डूबा और खोया

रात में सोया
जब धुले हुए बिस्तर पर
मैंने तुम्हें खोया
सागर में डूब गया गोया
नींद में भिगोया!

11–9–1955

रेलगाड़ी

दानव की बड़ी आँत,
पहियों पर चढ़ी-चढ़ी,
हाथ की लकीरों पर,
घहर-घहर दौड़ रही.
शोणित के सफेद कण,
शोणित के रक्तिम कण,
एक बड़ी संख्या में,
भीतर से झाँक रहे॥

11–9–1955

शाम

एक श्वेत भालू हो,
पंजों पर मानव-सा
बर्फ पर ही खड़ा हो,
ताड़ से भी बड़ा हो,
जल्दी से इतने में,
कोई शीश काट दे,
लोहू तब उछला हो
ऊपर से नीचे तक
अम्बर को, धरती को,
भालू को लाल करे॥

11-9-1955

वायलेन

आधे गज का
        प्लाईवुड का
        हल्का मेढक!
उसके ऊपर
        समाचार ले जाने वाले
        तार पेट पर
        लगातार सिर से नीचे तक :
उन तारों पर
        हिरन दौड़ते!
कान खूटियाँ
        कपड़े रँगते!
हाथों में आ
        चिल्लाता है!

15-9-1955

मैदान

शेषनाग का खम्भा!
फैले फन पर उसके,
राकड़ मिट्टी लेटी–
मेजपोश–सी मैली!
मेजपोश के ऊपर,
जगह–जगह पर अनगिन
चार–चार खुर अंकित!
नीला तम्बू ताने–
फ्राक हवा की हिलती।
केश–काँस, कुश, काँटे,
एक साथ हैं रहते।

15–9–1955

उठो कर्म कर नाचो

(1)

तुम उठो, कर्म कर नाचो
जो हुआ और जो बीता
जो पड़ा हुआ है रीता
उस हुए और बीते पर
उस पड़े हुए रीते पर
कल की छलनी–छाती पर
तुम उठो, कर्म कर नाचो
विस्तृत विशाल पृथ्वी पर

(2)

तुम उठो, कर्म कर नाचो
जो रुका और जो रोता
जो पड़ा हुआ है सोता

उस रुके और रोते पर
उस पड़े हुए सोते पर
बंधन, आँसू, आलस पर
तुम उठो, कर्म कर नाचो
बिजली बोओ पावस भर

26-9-1955, रात्रि

मन के भीतर और एक जग[1]

(1)

मन के भीतर और एक जग
उस जग में इस जग की धरती
छाया-छवि है अपनी भरती।
मन की धरती
इस धरती से क्वाँरी लगती
मन की जगती
इस जगती से प्यारी लगती

(2)

मन के भीतर और एक जग
उस जग में इस जग की ममता
भरती है जीवन की क्षमता
मन की ममता
इस जग में भरती सुन्दरता
मन की क्षमता
इस जन में भरती पुंसकता

26-9-1955

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

आकाश[1]

महा मही आकाश विशाल
प्रभापूर्ण पट पहने लाल
लिए हाथ में रवि की ढाल
चला रहा युग की करबाल

22–10–1955

निकोला वाप्त्सरोव के प्रति

अंगरेजी के माध्यम द्वारा,
तुम पुस्तक में छपकर आए!
स्वागत में हम लोग तुम्हारे,
खड़े हुए हैं बाँह पसारे!!
यद्यपि तुम परलोक सिधारे!
हमने तुमको
तुमने हमको,
पुस्तक के ही–
द्वारा देखा
जी भर देखा!
कभी न भूलेंगे हम तुमको
कभी न भूलोगे तुम हमको!!

तुमने हमको काव्य सुनाया
इंसानी छंदों में गाया।
जीने की अभिलाष जगाया,
तुमने हमको मित्र बनाया।

अब हम दोनों,
दूर देश के दोनों वासी,
एक हुए हैं!
मेरा भारत,

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

देश तुम्हारा,
अब तो दोनों एक हुए हैं!!

यह रचनाएँ हमको प्रिय हैं,
उतनी जितनी तुमको प्रिय हैं!
इनको गाकर हम कहते हैं :
यह सीना है आशावादी!
यह सीना तो है फौलादी!!
इस सीने को–
तोड़ न सकती कोई गोली
खूनी प्यासी कोई गोली!!

24–10–1955

मैं और तुम

मैं पत्थर हूँ!
तुम शिल्पी हो!
यही समझकर,
काट रहे हो–
क्या तुम मुझको?

मैं नश्वर हूँ!
तुम शाश्वत हो!
यही समझकर,
मार रहे हो–
क्या तुम मुझको?

यदि ऐसा है,
तब तो शिल्पी
तुम पत्थर हो;
तब तो शाश्वत
तुम नश्वर हो!

सच पूछो तो
मैं चेतन हूँ;
नश्वर भी मैं
चिर जीवन हूँ!
भ्रम है तुझको!!

आओ हम-तुम
पत्थर काटें
जीवन बाँटें
यही उचित है
हमको तुमको!!

1-12-1955, 11 बजे रात्रि

गीत

जाने बहुत
बहुत पहचाने
हमने अपने
और बिराने
धूप-छाँह के
बंधु पुराने

सोए कहीं
कहीं जा खोए
सबने सबके
सिंधु बिलोए
नीर-पीर से
नैन भिगोए

बोले कौन
कौन मुँह खोले

कटता है
संकट अनबोले
होना है
जो चाहे होले

13–12–1955

वायु[1]

बुलबुल-सी वायु आज चुलबुल है,
बैठा हूँ जहाँ वहाँ गुलगुल है,
इसीलिए दुनिया यह अच्छी है,
ऊन की मुलायम-सी लच्छी है।

14–12–1955

मनुष्य[2]

मैंने तो आग का अंगार कभी छुआ नहीं,
सूरज को भूलकर हथेली पर लिया नहीं,
लेकिन मैं रोज दिया आग से जलाता हूँ,
क्योंकि मैं मनुष्य हूँ, प्रकाश का विधाता हूँ

14–12–1955

घोड़ा[3]

घोड़े को घास और दाने से यारी है,
मंजिल तक जाने में कष्ट उसे भारी है,

1.2, 3 शीर्षक संपादक द्वारा

चलने को अफसर-सा मंद-मंद चलता है,
क्योंकि उसे शान्ति-भंग करना अब खलता है

14-12-1955

रिश्वत[1]

क्या आगे, क्या पीछे,
क्या ऊपर, क्या नीचे
सभी जगह है किस्मत
राज प्रमुख है रिश्वत

14-12-1955

देश अपना रम्य होगा[1]

जो नहीं होता रहा
अब वही होगा
अपहरण का अवतरण अब नहीं होगा
यम-पवन का
संचरण अब नहीं होगा
श्रम-श्रमिक से
क्रम मही का सही होगा

जो नहीं होता रहा
अब वही होगा
रंक कोई दास कोई नहीं होगा
दीनता का
ग्रास कोई नहीं होगा
श्रम-श्रमिक से
क्रम मही का सही होगा

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

जो नहीं होता रहा
अब वही होगा
कर्म से ही प्रेम का अब जन्म होगा
प्रेम से ही क्षेम का अब जन्म होगा
देश अपना
रम्य होगा
धन्य होगा

13-1-1956

जहाँ कल जीवन दूभर था[1]

जहाँ कल जीवन दूभर था
असम्भव रहना भू-पर था
वहाँ जन जगे
कर्म में पगे,
साम्य-सुख सजे,
बीन से बजे,
वहाँ अब जीवन कंचन है
सृजन में रत अनुरंजन है

18-10-1956

प्यारे! नैया प्यार से[1]

प्यारे! नैया प्यार से
खेयेगा पतवार से
नाव न डूबे ऊबे मन के भार से

सागर की फुफकार से

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

लहरों के हर वार से
प्यारे! कंधा डाल न बैठो हार के

जीवन जयजयकार से
कर्मों की गुंजार से
प्यारे! तुमको पास बुलाता पार से।

11-2-1956

गेहूँ[1]

माँ-धरती के नौजवान बेटों-से गेहूँ
श्रम से सींचे-सरल स्नेह से पाले-पोसे
रवि के तप से तापित हो आलोकित छवि से
नीले नभ के तले देखते हैं सुख-सपने
आएँगे दिन, फल पाएँगे सभी कृषक-जन
आएँगे घर काट-माँड़कर सोने का धन
जीवन होगा प्रिय से प्रियतर और मधुरतम
नाचेगी कविता जनता के साथ छमाछम

25-2-1956

जब[1]....

जब तार टूटता है
सितार का बजकर
जब नहीं लहरता है स्वर का सुख-सागर
तब वहीं घहरता है उर का दुख-सागर
अवनी रोती,
अम्बर होता है कातर

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

जब रूप रूठता है
प्रकाश-सा मनहर
जब नहीं दमकता है जल-थल औ' अम्बर
तब वहीं लहरता है यम-सा तम-तस्कर
चाहें[1]/आँखें रोतीं,
मानव होता है कातर

जब स्नेह सूखता है
सरोज-सा खिलकर
जब नहीं महकता है युग का उर-सम्वत्सर
तब वहीं कलपता है जन-मन का मधुकर
आशा रोती,
भाषा होती है कातर

25-2-1956

उन प्यारे हाथों को चूमो[2]

उन प्यारे हाथों को चूमो
जो कुंठा के काले परदे
रंग-भूमि से उठा रहे हैं
युगारम्भ के युवा-सूर्य को
गाँव-गेह में उगा रहे हैं।

26-2-1956

---

1. केदारजी ने दोनों शब्दों को दिया है। विकल्प का चुनाव पाठकों पर सं.
2. शीर्षक संपादक द्वारा

माटी अब कब रक्त माँगती[1]

माटी अब कब रक्त माँगती
रक्त गिरे पर रोष मानती
रक्तपात को दोष मानती
माटी अब कब युद्ध माँगती

माटी अब श्रम-स्वेद माँगती
स्वेद मिले बिन खेद मानती
स्वेद रक्त में भेद मानती
माटी श्रम का वेद माँगती

माटी अब मुद मोत माँगती
मोद मिले बिन शोक मानती
मूलमंत्र आमोद मानती
माटी सुख-सम्भोग माँगती

10-3-1956

करमवान[2]

माटी का यह खेत जोतकर
करमवान बो रहा बीज-बल
पहले अंकुर नए उगेंगे
फिर उपजेगी नई फसल कल

10-3-1956

1-2. शीर्षक संपादक द्वारा

फागुन[1]

रंग-भरी पिचकारी मारी
फूलों के गालों पर जिसने
वही महीना फागुन का
रँग रहा हमारी देह दुलारी,
वही महीना रंगों का
रस-बोरे भोरे अगों का
रँग रहा हमारी इच्छा सारी

रंग-भरी पिचकारी मारी
मोरों के पंखों पर जिसने
वही महीना फागुन का
रँग रहा हमारी नेह-अटारी,
वही महीना चुम्बन का
मदमाते प्रेमालिंगन का
रँग रहा हमारी सत्ता सारी

22-3-1956

मेघ[2]

मेघों के पहलवान
पहुँचे जब आसमान
खूब लड़े घमासान
दावों से दाँव फाँस।

5-4-1956

1-2. शीर्षक संपादक द्वारा

पड़ने दो बर्फ और पड़ने दो[1]

(1)

पड़ने दो बर्फ और पड़ने दो
पर्वत को पर्त-पर्त
बर्फ और ढँकने दो
ढँकने दो रूई और ढँकने दो
पर्वत को नर्म-नर्म
रूई और ढँकने दो

(2)

पड़ने दो बर्फ और पड़ने दो
आत्मा को पर्त-पर्त
बर्फ और ढँकने दो
ढँकने दो रूई और ढँकने दो
आत्मा को नर्म-नर्म
रूई और ढँकने दो

9-4-1956

निर्माण के स्वर

कि हम भी गुनगुनाएँगे
गले से जिन्दगी अपनी
स्वरों से रस चुआएँगे
बड़े मैदान के ऊपर
जहाँ हैं आम महुए के खड़े तरुवर
लिए पतझर

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

नए, भौंरे, नई बौरें,
नई कोंपल, नई कोयल बुलाएँगे
वहाँ पर मोद की मुरली
मधुरतम हम बजाएँगे
वसन्ती वासना के पग
पवन पर हम नचाएँगे।

कि हम भी गुनगुनाएँगे
पुलक से पार लगने को
स्वरों के पुल बनाएँगे
समय के सिंधु के ऊपर,
कनक-से प्रात की ढोलक लिए मनहर,
खड़े होकर,
नए निर्द्वन्द्व हाथों से
समुत्सुक हम बजाएँगे
अरुण यौवन, तरुण जीवन,
सृजन के स्वर्ग के सपने नचाएँगे
करोड़ों कर्म के उत्सव
मगन मन हम मनाएँगे

9-4-1956

तुमने झाँका[1]

तुमने झाँका,
आसमान की खोल खिड़कियाँ
मेरे दिल के भीतर अपना दिया जलाया,
और अँधेरा मेरा हरकर मुझे जगाया!

मैंने देखा,
लेकिन तुमको, उस प्रकाश में,

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

देह छिपाए खड़े हुए भी, देख न पाया;
छिपे रहे तुम मेरे तन की बनकर छाया!

मैंने खोजा,
लेकिन तुमको, निज निवास में–
नेह नहाए होने पर भी, खोज न पाया;
मिले रहे तुम मुझसे बनकर मेरी काया!!

9–4–1956

प्यार[1]

एक बाग मैंने भी प्यार का लगाया है
प्यार के प्रसूनों को प्यार से खिलाया है
किन्तु अभी शूलों को भूल नहीं पाया हूँ

एक दीप मैंने भी प्यार का जलाया है
प्रान के पतिंगे का पंख झुलसाया है
किन्तु अभी भूलों को भूल नहीं पाया हूँ

23–4–1956

गीत बड़ा प्यारा है[2]

गीत बड़ा प्यारा है!
सत्य कहूँ :
गीत नहीं,
निरावरण अंग ही तुम्हारा है,

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा
2. इस गीत का एक और फाइनल प्रारूप भी मिला है, जिसमें अन्तिम बंद प्रारम्भिक बंद है और प्राम्भिक अन्तिम। (सं.)

मैंने जो
चाव से निहारा
और नेह से निखारा है!!

गीत बड़ा प्यारा है!
सत्य कहूँ :
मेघहीन
अम्बर का शुभ्र शुक्र तारा है,
निशि ने जो
केश में सँवारा
और जिसे गर्व से उभारा है॥

23-4-1956, छः बजे शाम

पिक, छवि, कवि[1]

(1)

पिक का स्वर ही
छवि का स्वर है
और इसी से
स्वर सुखकर है
और मधुर है,
और इसी से
स्वर से झंकृत
जग सुखकर है
और मधुर है;
और इसी से
स्वर से वंचित
जग दुखकर है
और विधुर है

1. शीर्षक संपादक द्वारा

(2)

छवि का स्वर ही
कवि का स्वर है
और इसी से
स्वर मनहर है
और मृदुल है;
और इसी से
स्वर से जीवित
जन-सागर है
मेरु-मृदुल है;
और इसी से
स्वर से वंचित
जन कातर है
घोर तुमुल है

(3)

कवि का स्वर ही
युग का स्वर है
और इसी से
स्वर जनगर है
और सबल है
और इसी से
स्वर से शासित
देश अमर है
कर्म सफल है
और इसी से
स्वर से वंचित
देश जठर है
कर्म विफल है

23-4-1956, 5 बजे शाम

जीवन का रवि-रूप उजाला

जीवन का रवि-रूप उजाला
कौन धुनेगा आज?
वही धुनेगा जो करुणा का
वस्त्र बुनेगा आज।

जीवन का घट रीता-रीता
कौन भरेगा आज?
वही भरेगा जो जनता को
प्यार करेगा आज।

जीवन के संघर्ष-समर में
कौन लड़ेगा आज?
वही लड़ेगा जो आफत पर
टूट पड़ेगा आज।

जीवन का शिव-साम्य सँदेशा
कौन कहेगा आज?
वही कहेगा जो दीनों का
हाथ गहेगा आज।

24-4-1956, 11 बजे रात

भुना चना[1]

भुना चना,
नमक-मिर्च लगा मिला,
स्वाद बना;
गाल में गुलाब खिला,
मोदमना।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

हाड़ का पहाड़ बना–
मर्द तना।

भूमि–आसमान हिला–
युद्ध ठना।
ध्वस्त हुआ मृत्यु किला!
धन्य चना!!

25–4–1956

मौन बहो

ओठ सिए,
ओज–द्वार बंद किए,
रत्न सिंधु!
सुप्त रहो!

किन्तु
काल–कूल को
नितान्त तोड़,
रोर–रुद्ध मौन बहो।

29–4–1956

करुणाकर दया करो[1]

मेरा तन शिला नहीं,
पत्थर या लोहे का किला नहीं,
जिसको तुम चूर करो
मुझको मजबूर करो

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

इतना बल मिला नहीं,
वार सहूँ, किन्तु करूँ गिला नहीं
अहरह में जिया करूँ
यद्यपि विष पिया करूँ

इतना दुख! नहीं....नहीं....।
तोड़ो तन, मोड़ो मन, नहीं....नहीं....।
अब तो तुम दया करो।
करुणाकर दया करो॥

11-5-1956

प्रेम-सुरा पी आया[1]

सोम-सुरा पी आया,
इसीलिए यह पवन मगन लहराया,
और तुम्हारे घर-आँगन में-
तुम्हें भेंटकर,
इसने मोद मनाया।
तुमने जान न पाया!!

प्रेम-सुरा पी आया,
इसीलिए मैं सपना बनकर छाया;
और तुम्हारे कंचन तन में-
स्वयं समाकर,
मैने नीड़ बनाया।
तुमने जान न पाया!!

19-7-1956, रात्रि

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

मैं[1]

डाक से आया
मैं लिफाफा–नहीं खोला गया
हाथ में हवा के ही तोला गया
कौन हूँ?–
कैसे मैं पधारा?–
नहीं जाना गया
बंद, गूढ़ आत्मा ही माना गया

खोल दे कोई
मैं बताऊँ उसे सारी कथा
प्राणों की गुप्त–सुप्त भारी व्यथा

24–7–1956, शाम

महात्मा बुद्ध से

कागज से, पेरिस–प्लास्टर से बनी तुम्हारी,
मूर्ति हमें मनमोहक लगती है अवतारी।
इसीलिए हम तुम्हें दाम देकर ले आए,
करुणा और अहिंसा पाने के अधिकारी!!

किन्तु महात्मन्! क्रय–विक्रय से क्षुब्ध न होना!
कलाकार के ऊपर, हम पर क्रुद्ध न होना!!
कला बिकी–तुम नहीं बिके हे गौतम स्वामी।
बंद न होता बिना तुम्हारे आए रोना!!

जीवन की तकरार–दाह रोको निर्वाणी!
सत्य, अहिंसा, करुणा वरसो हे विज्ञानी!!
पर्णकुटी का शुभागमन यह याद रहेगा!
जब तक गंगा–जमुना में बहता है पानी!!

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

देव! कला बिककर भी अब भी नहीं नसानी!
क्योंकि कला ने दिया हमें, तुम-सा वरदानी!!
शुभाशीष दो कला मनुज की सेवा साधे!
शान्ति प्राप्त कर सकें शोक में डूबे प्राणी!!

25-7-1956, रात्रि

रात चाँद की लालटेन ले

तारों की फूली बगिया में
कहीं न कोई मानव आए
चुपके-चुपके फूल चुराए
और पाँव की धूल छोड़कर,
मैले-मैले दाग लगाए
फिर इन तारों को ले जाकर
मृत्यु-लोक में म्लान बनाए
इसीलिए यों आदिकाल से
रात चाँद की लालटेन ले
सजग चौकसी में रत रहती
और मनुष्यों का मन हरती

7-8-1956

आओ अब![1]

आओ अब, आओ अब,
आओ अब अंगना!
पीड़ित तन, मीड़ित मन,-
मेरी है वंदना॥

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

आओ अब, आओ अब,
आओ मन रंजना!
चुम्बन से व्यक्त करो
जीवन की वंदना!!

आओ अब, आओ अब,
आओ अब कल्पना!
कविता में रूप भरो
और हरो वंचना!!

17-8-1956

शोक से शरीर सनेगा[1]

धूप में चलो नहीं,
कि पाँव जलेंगे,
पाँव के मराल नहीं धूप सहेंगे;
लाल फूल गाल के गुलाब जलेंगे;
रूप-राग म्लान बनेगा,
शोक से शरीर सनेगा।

पीर में पलो नहीं,
कि प्रान गलेंगे,
प्रान के प्रसून नहीं शूल सहेंगे;
हाव, भाव, चाव भी समूल गलेंगे;
आत्म-ज्ञान शून्य बनेगा,
शोक से शरीर सनेगा!

21-8-1956, 10 बजे रात

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

आत्माभिव्यक्ति

मैं आत्मा हूँ
बंद विवर की,
तन नश्वर की।
मुझे चाहिए
मुक्त-मेघ के पंख सुनहले
-जो न शीत में गलें,-
ताप में पिघलें,-
किन्तु उड़ें,
उड़कर छवि छू लें पहले!!

मैं आत्मा हूँ
सुप्त समय की,
हीन हृदय की।
मुझे चाहिए
सिंधुराज के शंख रुपहले
-जो न ओज को तजें,-
मूर्छना सिरजें,-
किन्तु बजें,
बजकर भव भर लें पहले॥

23-8-1956, रात्रि 10 बजे

पंचशील[1]

आज हम मिट्टी के दीन-हीन ढेले नहीं,
राह में पड़े हुए अकेले नहीं।
कौन कह सकता है हमने दुख झेले नहीं,
देखे बड़े झंझट-झमेले नहीं?
आज हम जनता की जीत लिए गाने लगे,

1. शीर्षक संपादक द्वारा

देश को मृदंग-सा बजाने लगे,
शासन का काम-काज सुख से चलाने लगे।

आज हम रम्भा की जंघा के केले नहीं,
माला में गुंथे हुए बेले नहीं,
काम या किलोल के पंडित या चेले नहीं,
बाँह में बिलासता सकेले नहीं
आज हम मानव को मान नए देने लगे,
'पंचशील' नैया को खेने लगे,
युद्ध के विरुद्ध राष्ट्र-संघ को सेने लगे।

30-8-1956, रात्रि 9 बजे

मेरी कविता[1]

कठिन काल है,
कुटिल डगरिया;
बरस रही है विषम बदरिया;
छवि की चाल चले तो कैसे-
जब बज पाती नहीं
पयलिया!

मेरी कविता,
दुख की दुहिता,
मौन मना है भाव-खंडिता,
जन के कंठ लगे तो कैसे-
जब मूर्छित है वह
रस-रहिता!

30-8-1956 , 11 बजे रात्रि

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा।

मेरी आत्मा[1]

अधिक आँच में साँच तपा, तप निकला,
सोना ही था, सोना बनकर पिघला।
कृपण नहीं है मेरी आत्मा विकला,
अधिक आँच में और हुई वह सफला!!

30-8-1956, 11 बजे रात्रि

पेट की फरियाद[2]

मैं नहीं अब तक किसी भी दिन बिका हूँ,
किन्तु अब बाजार बिकने जा रहा हूँ!
काव्य का ईमान पत्थर मारता है,
पेट की फरियाद सुनने जा रहा हूँ!!

रोटियों के गोल मुखड़े मोहते हैं,
स्वप्न भस्मीभूत होकर सो गए हैं!
कल्पना के पंख काटे जा चुके हैं,
गीत के अंगूर खट्टे हो गए हैं!!

साथियो! भूखे भजन होता नहीं है,
पेट का गृह-युद्ध लड़ने जा रहा हूँ!
काव्य का करतार हिम्मत हारता है,
रोटियों के पाँव पड़ने जा रहा हूँ!!

गर्व से ऊँचे उठे सिर को झुकाए,
आँसुओं, की अर्चना में जा रहा हूँ!
भाइयो! तुमसे क्षमा मैं माँगता हूँ,
अर्थ की अभ्यर्थना में जा रहा हूँ!!

5-9-1956, शाम

1-2. शीर्षक संपादक द्वारा

जनयुग[1]

पैसे की है कमी–प्यार की कमी नहीं है,
तेज हुई रफ्तार इसी से थमी नहीं है
छपता है अखबार इसी से रुका नहीं है,
'जनयुग' है दमदार इसी से झुका नहीं है

मैं रुपयों का ढेर लगा देता यदि होते,
स्वर्ण–रजत के हाथ कटा देता यदि होते
किन्तु विवश हूँ, अर्थहीन जीवन को ढोते,
न्यायालय के झूठालय में किस्मत खोते

आ जाते हैं याद मुझे भी आज सुदामा,
जिनके घर भूखी बैठी थी दीना भामा।
फिर भी चावल चार प्यार के वह ले धाए,
मिले कृष्ण से अपनी आँखें शीश झुकाए॥

मैं भी तुमको भेज रहा हूँ थोड़े पैसे,
किसी तरह से जेब काटकर जैसे–तैसे।
चले खूब अखबार, समय का सीना खोले,
उसके पृष्ठों से भारत की जनता बोले॥

11–9–1956 , शाम

एक विदेशी संगीत को सुनकर

गान एक गाया गया
अम्बर में कीट–सा कपोत–सा उड़ाया गया
नीड़ आसमान में सनेह का बनाया गया
भूमि को विराट व्योम वक्ष से मिलाया गया

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

गान एक गाया गया
चन्द्रप्रभा रूप-की हिलोर-सा उठाया गया
मूर्तिमान मोद के मयूर-सा नचाया गया
काल के कपोल में सरोज-सा खिलाया गया

12-9-1956, रात्रि

रम्य-रूपा मही

प्यार है पंकिल धरा में
अन्नदा विश्वम्भरा में
फूल-फलदा
मेदिनी मुद मोहती है
बाँस की बंशी बजाती
गीत गाती
रम्य रूपा यह मही है
स्वर्ग से सुन्दर यही है

अक्टूबर, 1956

महोबे की बोली[1]

यह बुंदेलों की बोली है!-
लेकिन इसमें रोष नहीं है,
आल्हा-ऊदल की छाती का
सेनानी उद्घोष नहीं है।
अंग्रेजी में टूट चुकी है,
और अभावों में डूबी है,
दृश्य-काव्य की मूक नटी-सी
दीन-हीन जग से ऊबी है।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

बुंदेलों की यह प्रिय बोली,
फिर भी मीठी है रस-घोली!
जाने कितना मधु देती है,
सबके मन को हर लेती है।
यह कोयल है या बानी है,
या निर्झरिनी का पानी है।

20-11-1956

ताजमहल[1]

शिल्प-कला की संवेदन-छवि ताजमहल है,
कभी नहीं मुरझाने वाला श्वेत कमल है
निर्मल नक्षत्रों की छवि से भी निर्मल है,
चन्द्रोदय लगता इसके आगे धूमिल है

आँखों से उमड़ा यह मानव-मन का जल है,
करुणा-सागर का उज्ज्वल-सा यह बादल है
पत्थर होकर भी सदियों से यह विह्वल है,
विह्वल होकर भी यह सुन्दर मुख-मंडल है

ऐसा लगता है जैसे यह अभी बना है,
प्रस्तर के उर से प्रकटित सस्मित सपना है
अविनश्वर यह ताजमहल नश्वर प्रस्तर का,
मूर्तिमान अक्षुण्य प्रेम है अभ्यंतर का

वे शिल्पी जो इसे बनाकर चले गए हैं,
नहीं लौट सकते हैं ऐसे छले गए हैं।
उन्हें आज भी हम लगते हैं रीढ़ झुकाए,
अपने कंधों पर अपना ही ताज उठाए॥

इसीलिए यह यमुना नीली-श्याम गगन है,
ताजमहल की छाया में भी साँवरपन है।

---

1. इस कविता का परिवर्द्धित रूप दिसम्बर 1956 में पुनः तैयार किया गया। (सं.)

ओस और आँसू का भू पर गीलापन है,
और मनुष्यों के सनेह में पीलापन है

26-11-1956, रात्रि 11 बजे

'रूप तरंग'[1] को पढ़ते समय

सोया है संसार, निशा सब पर फैली है
केवल मेरा एक दिया अब तक जलता है[2]
इसकी लघु लौ नहीं हुई कुछ भी[3] मैली है
इसको[4] छूकर अँधियारा गलने लगता है
मैं भी अपने दीपक का साथी एकाकी
नैनों को खोले कविता-पुस्तक पढ़ता हूँ
और निरखता हूँ वाणी की बाँकी झाँकी
पद-पद पर मैं प्रतिपल सुमनों-सा चढ़ता हूँ[5]
पौ फटती है और उदय सूरज होता है[6]
तमसावृत जीवन अपनी जड़ता खोता है।[7]

21-12-1956

---

1. डॉ० रामविलास शर्मा का काव्य-संग्रह।
2. डॉ० शर्मा को भेजी गई इस कविता के पूर्व प्रारूप में यह पंक्ति इस तरह है—'केवल एक दिया है मेरा जो जलता है।'
3. डॉ० शर्मा को भेजी कविता में—'कुछ भी' की जगह 'किंचित्' है।
4. 'इसको' की जगह 'जिसको' है।
5. पूर्व रूप था—''पद-पद' पर मैं पुष्प सदृश प्रतिपल चढ़ता हूँ''
6. पूर्व रूप था—'होता है कल्यान सुबह मेरी होती है।'
7. पूर्व रूप था—'तमसावृत जीवन की जड़ता खोती है।' (सं०)

इससे मैं जीवित हूँ[1]

साँसों में, सुधियों में, आँखों में, अँगियों में
रूप अभी जीवित है इससे मैं जीवित हूँ

छंदों में, छवियों में, काव्यों में, कवियों में
प्रेम अभी जीवित है इससे मैं जीवित हूँ

गाँवों में, गलियों में, फूलों में, कलियों में
गीत अभी जीवित है इससे मैं जीवित हूँ

21-12-1956

भेंट[1]

साथी की यह भेंट मुझे साथी-सी भाती
कविताओं से भरी हुई है जिसकी छाती
मैं साथी को इस पुस्तक से हृदय लगाता
अपनी छाती को छंदों का निलय बनाता[2]

21-12-1956

'रूप-तरंग' के छंदों से प्रभावित होकर

मन्द मृदंगम के स्वर से छंदों के स्वर हैं
स्वर से कूजित कविताओं के बिम्बाधर हैं,
बिम्बाधर से पुलकाकुल[3] अवनी-अम्बर है
अवनी-अम्बर के अधिकारी राग अमर हैं।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा
2. यह कविता केदारजी ने डॉ० रामविलास शर्मा को इस टिप्पणी के साथ भेजी थी—'तुम्हारी भेजी पुस्तक कीट्स के संग्रह पर मैंने यह चार पंक्तियाँ लिखी है। —केदार' (सं०)
3. डॉ० रामविलास शर्मा को भेजे प्रारूप में 'पर चित्रांकित' है। (सं०)

निर्झर-सी छंदों की बाँहें राग-रचित हैं
बाँहों से लिपटी कविताएँ भाव-भरित हैं,
कविताओं में उपमाओं के कुंज-कलित हैं
उन कुंजों में जन-जीवन के गीत ध्वनित हैं।

22-12-1956

पेड़[1]

मरकत पातों की श्यामलता को सरसाए।
सूर्यातप में खड़े पेड़ छवि-क्षीर नहाए॥
प्यारे लगते हैं मुझको मेरे भाई[2] से।
नाता जोड़े हैं ये भी धरती-माई से॥[3]

25-12-56, 2 बजे दिन

वसन्त

जड़ी भूत काठिन्य रसा[4] का बदल गया है हरियाली में
हरियाली को अंग लगाए सुस्पंदित हैं तरू-लतिकाएँ
श्यामलता की इस पुलकन से मद-विह्वल हैं दिवस-दिशाएँ
मुग्ध मगन-मन नव दिनकर है नीलम की निर्मल प्याली में
राग-भरे निर्झर झरते हैं तरु-पातों की वाचाली में
हरियाली संगीत-ध्वनित है, आनंदित हैं सब शाखाएँ[5]
शाखाओं पर आभूषित हैं पुष्पों की मंजुल मालाएँ
वासंती रंगों की होली विस्तारित है बनमाली में

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा
2. डॉ० रामविलास शर्मा को भेजी कवितों भाई' की जगह 'भ्राता' है।
3. 'माई' की जगह 'माता' है। (सं०)
4. डॉ० रामविलास शर्मा को भेजी गई इस कविता के प्रारूप से 'भूमि' है। (सं०)
5. डॉ० रामविलास शर्मा को भेजी कविता में यहाँ पर है—'रस रंजित हैं स्वर शाखाएँ' (सं०)

मेरे मन में व्याप गई है अवनी-युवती[1] की श्यामलता
मेरा भी अस्तित्व ध्वनित है छंदों की तन्मय[2] ध्वनियों में
मैं भी फूलों की होली में खेल रहा हूँ जी भर होली[3]
इसीलिए तो अब आई है मेरे पाँवों में कोमलता
रंगों को आकार मिला है मेरी कविता की कलियों में
रंग-बिरंगी चमक उठी है ललित कला की चूनर-चोली[4]

28-12-56, दिनभर

ताजमहल

हरियाली का श्याम सरोवर सदियों से फैला है भू-पर,
श्वेत कमल-सा ताजमहल यह खिला हुआ है उसके ऊपर।
नील गगन को छूकर भी यह नहीं हुआ है नीला अब तक,
अमल धवल यह खड़ा हुआ है भूतल पर गर्वीला अब तक॥

नभ का चाँद निकलकर, बढ़कर, जग को कर देता है निर्मल,
फिर भी क्रमशः घटकर वह तो हो जाता है पूरा ओझल।
लेकिन ऐसा चाँद नहीं-यह अपना प्यारा ताजमहल है,
अमर यशस्वी सदा चमकने वाला छवि का चाँद विमल है॥
यह मानव के मन से उमड़ा, मानव की आँखों का जल है,
इस करुणा की शिल्प-कला से पत्थर भी हो गया विकल है।
हम यह आँसू देख रहे हैं आँखों में ही आँसू लाकर,
ताजमहल में लीन हुए हम ताजमहल को सम्मुख पाकर॥

यह हमको ऐसा लगता है : इस क्षण जैसे अभी बना है,
यह प्रस्तर के उर से निकला जैसे फूलों का सपना है।

---

1. 'अवनी युवती' की जगह है—'तरु लतिकाओं।' (सं०)
2. 'छंदों की तन्मय' की जगह है 'तरु पातों की मृदु'। (सं०)
3. यह पूरी पंक्ति इस तरह है 'मैं भी जी भर खेल रहा हूँ फूलों के रंगों की होली' (सं०)
4. यह पंक्ति इस तरह है 'चमक उठी है रंग-बिरंगी चूनर बोली।' (सं०)

इस सपने की सुन्दरता पर न्यौछावर तन-मन अपना है,
इस सपने की छाया-छवि को अवलोकन करते रहना है॥

वे शिल्पी हैं धन्य जिन्होंने पत्थर में यह कमल खिलाया,
कभी न घटने, सतत चमकने वाला पूरा चाँद उगाया।
पत्थर को भी अश्रु बनाकर हम जैसा ही विकल बनाया,
प्रस्तर से फूलों के स्वप्नों की पंखुरियों को प्रकटाया॥

दिसम्बर, 1956

सरसों

अंधकार-आकार, अकायिक का आच्छादन,
सूक्ष्म, तरल, पार्थिव तत्वों पर आरोपित है।
ज्ञान-गम्य आलोक-विलोकित छवि की सत्ता,
केवल साँसों में सुधियों में परिपोषित है।
हरे पात की परी प्रतनु तन पीली सरसों,
ओझल होकर भी गोचर है ऐसे तम में।
आवेगों में संवेदों में वह जीवित है,
अक्षय है उसकी सुन्दरता क्षय के क्रम[1] में।

14-1-1956

'सेमल के फूल' पर

काँटों पर खिलते गुलाब की पंखुरियों पर
चातक अपना दिल निकालकर रख दे जैसे
और वही दिल फिर सुगन्ध बन-बनकर महके
और वही दिल फिर बुलबुल-सा वन में गाए

---

1. डॉ० रामविलास शर्मा को भेजी कविता में 'क्षय के क्रम' की जगह 'कालक्रम' है। (सं०)

रस तो बरसे लेकिन कोई चैन न पाए
वैसी ही यह मर्म व्यथा से भरी कथा है
इसको पढ़कर याद मुझे भवभूति आ गए
और नयन में करुणा के घन-सघन छा गए।

18-2-1957, 9 बजे रात्रि

('सेमल के फूल' पढ़ने के उपरान्त)

मोची

घिसे, चले, मर चुके तलों को
मैं निकालता।
जीने वाले जानदार मैं तले डालता॥
सीकर, पालिश से चमकाकर,
मैं उबारता।
जूतों से बाबू लोगों की
धज सँवारता॥

मैं पथ की पटरी पर बैठा
कला बेचता,
जूतों के चलने में सबका
भला देखता॥
मैं तो उस ऊँची आत्मा को
नहीं जानता।
मानव जिसकी ऊँचाई के
गुन बखानता॥

22-2-1957 , रात आठ बजे

मैं नहीं लचा

कंटक जो आए हैं पाँव के तले।
मैने वे बार-बार बिल्कुल कुचले॥

कोई भी एक नहीं घात से बचा।
संकट वट सकल बचे, मैं नहीं बचा॥

सामने पहाड़ मिले रोकते खड़े।
हो गए, निहार उन्हें रोंगटे खड़े॥
मैंने भी मल्लयुद्ध मेरु से लड़े॥
जीता मैं, हार गए वे बड़े-बड़े॥

मेघ ने, निदाघ ने, मुझे नहीं तजा।
कान के समीप मृत्यु ढोल भी बजा॥
किन्तु मैं निदाघ, मेघ, मृत्यु से कढ़ा।
नाचता हुआ प्रसून-पंथ में बढ़ा॥

26-2-1957, शाम 5 से 8 बजे तक

मौसम बहार का है[1]

मौसम बहार का है।
बजते सितार-सा है॥
अवसर मिलाप का है।
कुहकन-कलाप का है॥

आकाश भी सलज है।
जल में खिला जलज है॥
यह दिन सरस-दिवस है।
तन-मन विषय-विवस है॥

26-2-1957, 9 बजे रात्रि

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

निराला के प्रति

मानव-अपमान के
हलाहल को पान किया,
नीचे रह,
ऊँची कर
कविता को मान दिया।
जीवन में
गंध-गान-
छंद प्रवहमान किया;
तुमने स्वर लहरदार
जन-मन में तान दिया॥

पत्थर को तोड़ रही
नारी के साथ जिए;
मँहगू के साथ रहे
मँहगू का हाथ लिए।
खेतों को हँसिया से
काटते किसान बने;
मोरों के पंख खोल
नाचते विहान बने॥

27-2-1957, 11 बजे दिन : 2 घंटे में

कविता को भेंट

जितना जो कहा कभी
सुधियों ने मुझसे, छवियों ने मुझसे,
स्वप्नभरी अँखियों ने मुझसे,
मैंने वह सभी दिया
कविता को, तुमको।
जितना जो मिला कभी मुझको,
गन्ध-लुब्ध बादल से मुझको

मौन-मुग्ध पायल से मुझको
मैंने वह सभी दिया
कविता को, तुमको।
जितना जो पिया कभी मैंने
रूप-रंग फूलों से मैंने
गान-गंध कूलों से मैंने
मैंने वह सभी दिया
कविता को तुमको।
लेकिन जो मिला नहीं मुझको
मुझको अँधियारे में,
खोज-खोज हारे में मुझको
मैंने वह नहीं दिया
कविता को, तुमको।

28-2-1957

दान यह हृदय का है[1]

दान यह हृदय का है
प्रेम के उदय का है
जिसको मैं देता हूँ
प्राणप्रिये! तुमको।
मुझको स्वीकार करो
अथवा परिहार करो
लेकिन स्वीकार करो
प्राणप्रिये! इसको।

दुर्बल जब तन होगा
निर्बल जब मन होगा
दान यही बल होगा
प्राणप्रिये! तुमको।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

निर्धन जब तन होगा
निर्धन जब मन होगा
दान यही धन होगा
प्राणप्रिये! तुमको।

3-3-1957 , 10 बजे रात्रि

तुम नहीं सुधियाँ चुराओ[1]

तुम न आओ!-
किन्तु आने के लिए
यह मार्ग जो मैंने बनाया,
वह बड़ी कठिनाइयों से बन सका है,
तुम नहीं वह पथ मिटाओ!

दूर रह लो!-
किन्तु दूरी कम किया
यह मार्ग जो मैंने बनाकर,
वह बड़ी कठिनाइयों से कम हुई है,
वह नहीं दूरी बढ़ाओ।

भूल जाओ!-
किन्तु मैं भूलूँ तुम्हें
इतना नहीं बेबस बनाओ,
याद करने से कठिन है भूल जाना,
तुम नहीं सुधियाँ चुराओ!

6-3-1957, 1 घंटा : रात्रि 9 बजे

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

पृथ्वी[1]

पृथ्वी है –
या कि खिले फूलों को गोद लिए माता है,
मोर, जिसे मुग्ध देख, नाच-नाच जाता है,
विहगों का दल विशेष पहरों तक गाता है,
और पवन पेड़ों के पत्तों से तालियाँ बजाता है!
मैं भी इस उत्सव में उत्सव मनाता हूँ,
और यही बात भूल जाता हूँ, –
पृथ्वी है या कि खिले फूलों को गोद लिये माता है?

7-3-1957 , 5 बजे शाम : धूप भरे खेतों में झूमकर

बछड़ा[2]

गाय का बेटा है बछड़ा,
आँखों में काजल लगाए हुए बछड़ा,
धूप में खड़ा;
मुझसे भी तगड़ा,
देखना बड़ा।
जाएगा खेतों को हल लिए, अकड़ा;
मेरा ही बेटा है बछड़ा।

7-3-1957, 8 बजे रात : 5 मिनट में

और मैं अकेला![3]

जाने
वह कौन बात चितवन से कह गया;
कि आप तो चला गया,

1-2-3. शीर्षक संपादक द्वारा

लेकिन मन मेरा भी साथ में चला गया;
और मैं अकेला वह
बात याद करता ही रह गया।

7-3-1957, 8.30 बजे रात : 10 मिनट

खुल गए कमल[1]

जड़-जटा-जूट-बाँधे-पर्वत शिव-सा महान,
प्रातः-प्रपात आलोक-गात गौरी समान,
मिल गए और हो गए एक, ज्यों ज्योति-ज्ञान;
खुल गए कमल, हो गए नयन पुलकायमान!

10-3-1957 , 2 घंटे में : 12 से 2 बजे दिन

संध्या[2]

जैसे वन आग लगा लेता है
जैसे वह पूरा सब सोने का होता है
वैसी वह आग लगी संध्या थी
वैसी वह पूरी सब सोने की संध्या थी

पर्वत से मैंने उस संध्या को-
मीलों की दूरी से एकाकी देखा था
लेकिन वह आग और सोने की संध्या थी।
इसीलिए पर्वत को, मुझको भी,
आग और सोने से
संध्या ने चूमा था।

16-3-1957, 3 बजे से 4 बजे तक

1-2. शीर्षक संपादक द्वारा

तिय हैं....[1]

तिय हैं तो आकुलित-केश, पटु-नटी वेश,
कामातुर, मदविह्वल अधीर हैं,
सदियों से पुरुषों की जाँघों पर बैठी करती विहार हैं;
इन्हें नहीं संकोच-शील है,
यह मनोज के मन:लोक के नर-नारी हैं,
आदिकाल से इसी मोद के अधिकारी हैं,
चाहे हम-तुम कहें इन्हें : यह व्यभिचारी हैं।

13-4-1957, रात्रि 10 बजे : 3 घंटे में

लेखक[2]

लेखक जो बिकते हैं
बिककर जो लिखते हैं
लिखते वह कुछ भी नहीं
एकमात्र लेखनी को घिसते हैं

4-5-1957

वे उरोज दो[3]

वे उरोज दो
सटे गठे बैठे कपोत से
आकुल हैं
झीने अंचल से उड़ा जाने को
मेरे हाथों पर आने को
और मुझे
सुख के पंखों से सहलाने को।

5-6-1957, दोपहर

1, 2, 3. शीर्षक संपादक द्वारा

जंगल में बस्ती में

सिंह जो था गोली से मारा गया,
आदमी को मृत्यु ने खदेड़ लिया,
शायद कल-परसों तक मारेगी,
यही यही होता है जंगल में बस्ती में।

5-10-1957, 1.30 बजे, कोर्ट में

धूप[1]

पृथ्वी ने धूप पिया, पेड़ों ने धूप पिया,
नदियों ने धूप पिया, सागर ने धूप पिया,
हम सबने साथ-साथ गर्म-गर्म दूध पिया।

5-10-1957, रात्रि 9.15

तम-प्रकाश[2]

मैंने केश निशा के चूमे,
प्यार प्रात का पाया।
मैंने तुमको तम-प्रकाश में अपने कंठ लगाया॥

6-10-1957, रात्रि 10.30 बजे, 5 मिनट

वर्षा श्री

जितने बादल आए बरसे उनको मेरा प्यार।
झूम रही तन पर तरुनाई मैं अलबेली नार॥

1-2. शीर्षक संपादक द्वारा

हवा झुलाती मुझे हिंडोला, उड़ता आँचल छोर।
मुझे देखकर नाच रहे हैं, पंख पसारे मोर॥

6-10-57, 11.30 बजे रात : 5 मिनट

तुम्हारा कोमल स्वर हूँ[1]

तुमने अपनी द्रुत गति देकर मुझसे मेरी द्रुत गति हर ली,
आज तुम्हारी गति पर चलने वाला मैं केवल पहिया हूँ
मैं अपना तो नहीं तुम्हारा साहस बल हूँ

तुमने अपने पंख लगाकर मुझसे मेरे पंख चुराए,
आज तुम्हारे पंखों पर मैं उड़ने वाला एक नखत हूँ
मैं अपना तो नहीं तुम्हारा सुन्दर खग हूँ

तुमने अपनी वाणी देकर मुझसे मेरी वाणी हर ली,
आज तुम्हारी वाणी पर मैं जीने वाला एक सुकवि हूँ
मैं अपना तो नहीं तुम्हारा कोमल स्वर हूँ

8-10-1975, रात्रि 10 बजे

पूर्णमासी[2]

पारदर्शी चाँदनी की रात
पूर्णमासी की प्रकाशित यह विवसना रात
रूप की रम्भा अचम्भा कर रही यह रात
पुष्प के प्रश्वास से मधुगंध गुम्फित रात

8-10-1957, 10.30 बजे रात्रि

1-2. शीर्षक संपादक द्वारा।

तारा[1]

आया और चला गया
मेरा ही पड़ोसिन का बच्चा था।
मैंने कहा : रोओ नहीं, रात को तरैया बन आएगा,
तुमको वह देखेगा,
तुम भी उसे देखना।
लेकिन वह मानी नहीं, सारा दिन रोती रही।
इसके बाद रात हुई,
और एक छोटी-सी तरैया का जन्म हुआ,
मैंने कहा : देखो न,
उसने उसे देख लिया, शान्त हुई।
तारा नहीं, मेरी ही पड़ोसिन का बच्चा था
खूबसूरत, प्यारा-सा हँसता हुआ!

8-10-1957 , रात्रि 11 बजे

चुम्बन[2]

मेरे ओठों पर तुमने जो चुम्बन आँके
वह मेरे हैं,
और उन्हीं का मधु मेरा है।

चाहे जितनी दूर रहो तुम,
कहीं रहो तुम,
ओठों पर आँके वे चुम्बन
मुझको प्यार तुम्हारा देंगे
और मुझे जीवित रक्खेंगे।

दुख आएगा तो वह भी सुख हो जाएगा,

1-2. शीर्षक संपादक द्वारा

मधु पीकर मधु हो जाएगा,
चुम्बन के चिह्नों से चित्रित हो जाएगा।

11–10–1957, 10.30 बजे रात : 10 मिनट

तुम मेरी हो[1]

तुम मेरी हो
और मैं तुम्हारा हूँ,
यही ज्ञान जीवन का मेरे परम ज्ञान है।
मेरे ऐसे परम ज्ञान को काल नहीं हर सकता,
चाहे वह जितना बलीन हो मुझसे-तुमसे
चाहे वह जितना कठोर हो मधुर प्यार से।

11–10–1957, रात्रि 11 बजे : 5 मिनट

ह्विटमन बाबा[2]

ह्विटमन बाबा! मुझे तुम्हारी कविता प्रिय है,
इतनी प्रिय है, इतनी प्रिय है,
जितनी मुझको धरती प्रिय है,
और तुम्हारी दाढ़ी प्रिय है।

क्या कविता है–फसलों का दाड़िम सोना है,
बौरायी आँखों का मद है, चितवन का जादू-टोना है,
बूढ़े बाबा! यह सोना, यह मद, यह जादू
तुमको कैसे, कहाँ मिला यह मुझे बता दो,
इन्हें प्राप्त कर लूँ, मैं भी कर लूँ कविताई।

11–10–1957, रात 11.20 बजे

1-2. शीर्षक संपादक द्वारा

अँधेरा[1]

सामने, सब ओर,
घेरा डालकर गहरा अँधेरा,
कर चुका है बंद दीपक द्वार
मेरा और तेरा।
यह समय का है अँधेरा॥

काल से भी क्रूर
और कठोर गहरा है अँधेरा,
एक क्षण भी नहीं रखता मुझे तेरा,
तुझे मेरा
यह हृदय का है अँधेरा॥

12-10-1957, रात 10 बजे

आकाश[2]

यह नीला आकाश गोल धरती के ऊपर,
अंडे पर पखने फैलाए जैसे खग-सा
जीवन के प्राकृतिक प्रेम का ही प्रतीक है,
और मुझे प्यारा लगता है सबसे बढ़कर।

12-10-1957, रात्रि 9 बजे : 10 मिनट

गा दो फिर[3]

तुमने जो एक गीत
पहले कभी गाया था,
आँखों से,

1, 2, 3. शीर्षक संपादक द्वारा

ओठों से
अंगों से गा दो फिर
गा दो फिर
मुझको तुम भेंटो फिर
भेंटो फिर

13–10–1957, 11 बजे रात : 15 मिनट

मौत[1]

मैंने देखा :
मेरे आगे मौत खड़ी थी,
बिल्कुल नंगी,
जैसे कोई पागल औरत,
फिर भी इतनी इतनी सुन्दर
जितनी सुन्दर शकुन्तला थी।
लेकिन उसने मुझे न भेंटा,
और न मैंने उसको भेंटा।

21–10–1957, रात्रि 10 बजे

दीपक[2]

छिंगुली से भी छोटा दीपक
अँधियारे के ऊपर चढ़कर
निडर खड़ा है
और उजाला बरसाता है
जैसे सोना
पिघला–पिघला

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा

प्रेमी की छाती से निकला
जैसे प्यार

22–10–1957

फूल–सी कोमल उँगलियाँ[1]

फूल–सी कोमल उँगलियाँ
जब समुद्री–वासना में
रूप, रस, यौवन, तुम्हारा घोलती हैं
और मेरी नींद के परदे हटाकर
मोम–से दिल के दिए को चूमती हैं
तब तुम्हारी लौ हृदय में जागती है
तब तुम्हें मैं भेंटता हूँ
तब तुम्हारी फूल–सी कोमल उँगलियाँ चूमता हूँ।

22–10–1957, 9 बजे रात

मशालें[2]

जो मशालें जलीं,
जलकर बुझ गईं,
रोशनी देकर धरा पर सो गईं,
वह मशालें
हम उठा लें, फिर जला लें,
इसलिए मैं कह रहा हूँ आइए,
अब रोशनी से जिन्दगी चमकाइए

22–10–1957, रात 10.30 बजे

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा

तब तुमको अस्तित्व मिलेगा[1]

गूँगे, अंधे, बहरे पत्थर
तुम्हें कैदकर खड़े हुए हैं
मेरे हाथ उन्हें तोड़ेंगे
और तुम्हें बाहर लाएँगे
तब तुमको अस्तित्व मिलेगा
साथ-साथ जीने-मरने में रूप खिलेगा

22-10-1957, 11 बजे रात

दौड़ने दो धूप में[2]

मैं तुम्हारी छाँव में छिप सा गया हूँ
इसलिए तुम छाँह अपनी खींच लो
और मुझको दौड़ने दो धूप में
मैं पसीने में समय को जीत लूँगा

22-10-1957, 11.5 बजे रात

'स्पुतनिक—एक' भेजे जाने पर[2]

आज मेरे हर्ष का ठिकाना नहीं।
इतना हर्ष, इतना हर्ष, जितना हर्ष मैंने कभी जाना नहीं।

ऐसा हर्ष दूजा नहीं-तीजा नहीं-चौथा नहीं-पहला है-
ऐसा हर्ष देवताओं-दानवों ने पहले कभी जाना नहीं
ऐसा हर्ष आदमी ने, जब से हुआ, पहले कभी जाना नहीं

1, 2, 3. शीर्षक संपादक द्वारा। 'स्पुतिक—एक अंतरिक्ष में 4.10.57 को प्रक्षेपित किया गया था।

सदियों बाद आदमी ने पहली बार चन्द्रमा बनाया है
सदियों बाद आदमी ने पहली बार ज्ञान को जगाया है
सदियों बाद आदमी ने भारी आसमान को लचाया है
जैसी मुझे मेरी सदी बाल-चन्द्र वाली सदी प्यारी है
ऐसी नहीं कोई सदी प्यारी मुझे
गौरवमयी, गाथामयी, उत्तम सदी मेरी है।

24-10-1957, रात 10 बजे

जीना[1]

अपने लिए जीकर मैं तुम्हारे लिए जीता हूँ,
कि मेरे हाथ काम करें मेरा भी तुम्हारा भी,
अन्न जो उगाएँ, वह मेरा तुम्हारा हो,
गेह जो बनाएँ, वह मेरा हो तुम्हारा हो,
गाँव जो बसाएँ, वह मेरा हो तुम्हारा हो,
बाग जो लगाएँ, वह मेरा हो तुम्हारा हो,
वस्त्र जो बनाएँ, वह मेरा हो तुम्हारा हो,
कि मेरा देश मेरा हो तुम्हारा हो,
और सभी हाथ एक दूसरे के भाई हों, साथी हों,
जिन्दगी के इंजन के ड्राइवर हों,
आज और कल के चलचित्रों के चालक हों।

यद्यपि यह जीना एक सार्वजनिक जीना है,
लेकिन यह जीना नहीं भेड़ों का जीना है,
जंगल के पेड़ों के समान नहीं जीना है,
घास और फूस के समान नहीं जीना है,
बैलों के समान नहीं जुते हुए जीना है,
पिंजड़े की चिड़ियों के समान नहीं जीना है,
पैसों पर बिक कर नहीं जीना है।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

ऐसा यह जीना है कि एक से अनेक होकर जीता हूँ,
एक की इकाई से करोड़ होकर जीता हूँ,
साथ-साथ पंक्ति-बद्ध दीपों-सा जीता हूँ,
साथ-साथ लहरों-सा झूम-झूम जीता हूँ,
साथ-साथ भौंरों-सा घूम-घूम जीता हूँ,
साथ-साथ बूँदों की धार बना जीता हूँ,
साथ-साथ बीजों के उगा हुआ जीता हूँ,
साथ-साथ दानों के पका हुआ जीता हूँ,
साथ-साथ फूलों के खिला हुआ जीता हूँ,
साथ-साथ बाजों के बजा हुआ जीता हूँ,
साथ-साथ कोरस में गाता हुआ जीता हूँ,
साथ-साथ नावों के पाल खोल जीता हूँ,

मुझको इस जीने में क्लेश नहीं मिलता है,
मुझको इस जीने में शत्रु नहीं मिलता है,
मुझको इस जीने में स्वार्थ नहीं छलता है,
मेरे इस जीने से, शीश नहीं झुकता है,
मेरे इस जीने से, हृदय नहीं दुखता है,
मेरे इस जीने से, कैद नहीं रुँधता है,
मेरे इस जीने से, शौर्य नहीं घटता है,
मेरे इस जीने से, वक्ष नहीं धँसता है,
मेरे इस जीने से, रक्त नहीं जमता है।

30-10-1957, रात्रि 9 से 12 बजे तक

सलाम है सबेरे को[1]

सबके साथ मेरा भी सलाम है सबेरे को,
जिसने अभी जीता है, हराया है अँधेरे को,
मेरे लिए, सबके लिए,
जिसने एक आग वाले सूरज को ढाला है,

1. शीर्षक संपादक द्वारा

गाँवों में–गलियों में,
नावों में–नदियों में,
आत्मा में खूब जिसने भर दिया उजाला है।

8–11–1957, रात 9 बजे

रूप के गुनाहों में[1]

मुझसे कुछ कहो नहीं
कितना मैं डूब गया।
डूब गया कितना मैं अलकों में
पलकों में
सोनजुही बाहों में
रूप के गुनाहों में

8–11–1957, रात 10 बजे

लाइका के प्रति[2]

मौत को भी मात देकर लाइका ने मौत पाई
और ऐसी मौत जैसी मौत इन बलिदानियों ने नहीं पाई
जो लड़े थे धर्म के हित, धर्म के ध्रुव–प्रान होकर,
जो लड़े थे जाति के हित राष्ट्र के अरमान होकर
और जिनकी याद में खम्भे, भवन अनगिन बने हैं,
और अब भी नए निशि दिन बन रहे हैं,
क्योंकि उन बलिदानियों का प्रेम केवल धर्म से था,
जाति से था, राष्ट्र से था
नहीं मानव मात्र से था, नहीं पूरे विश्व से था

---

1. 3.11 1957 को प्रेक्षिपित 'स्पुतनिकन्दो' में लाइका नाम का कुत्ता 8 दिनों तक ज़िन्दा रहा था। बाद में उसकी मौत हो गयी थी। (सं०)
2. शीर्षक संपादक द्वारा

नहीं शशि से और नीलाकाश से था
और रूसी लाइका का प्रेम मानव मात्र के कल्याण से था
और इस ब्रह्माण्ड से था
श्रेष्ठ है यह लाइका जो चन्द्रपथ पर मर गया है
और मानव का मनोरथ आज पूरा कर गया है।

18-11-1957, रात 3 घंटे

जो कुछ भी मेरा है[1]

जो कुछ भी मेरा है, तुम्हारा है, सबका है,
चाहे वह मोल लिया छोटा-सा खिलौना हो,
चाहे वह कलसा हो,
चाहे मेज कुर्सी हो
चाहे वह कमीज, कोट, कुरता हो
चाहे वह दुपट्टा, फ्राक, साड़ी हो
चाहे वह किताब, चित्र, बाजा हो
चाहे वह शराब, चाय, पानी हो
चाहे वह चाकू, चिलम, चम्मच हो

उससे मुझे मोह है मुहब्बत है
और वही मेरे लिए जीने का सहारा है
मेरी आयु इसके साथ लिपटी हुई बढ़ती है
मेरी साँस उसके साथ चलती हुई पलती है
और उसे मेरे हाथ छूते हैं
मेरा हृदय सेता है!!

29-11-1957

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

तू जल गहरी भरी नदी है[1]

तू जल-गहरी भरी नदी है
और पखेरू मैं नभ का हूँ
तूने ज्योंही मुझे पुकारा
मैं आया हूँ,
ओ मेरी प्रिय नदी साँवरी
मैं आया हूँ बड़ी दूर से अरी बावरी!
जी भर अपने श्यामल जल में
पंख डुबा लेने दे मुझको
और नाक की नथ का मोती
सुधि में ले जाने दे मुझको
लाल चोंच में सुख से दाबे।

9-1-1958

बीज[2]

धरती में नीचे गड़े मेरे तुम छोटे बीज
अपने हरे हाथ-पाँव खोलो तुम
अपनी खोल तोड़ो तुम

1-3-1958, 9.30 बजे रात

नरेन्द्र शर्मा

छल-छल-छल नैन सखी
आँचल पट झीना
वन भायी[3] पपीहा सुधि की

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा
2. शीर्षक संपादक द्वारा
3. यह पंक्ति पांडुलिपि में इसी रूप में पढ़ी जा रही है। (सं०)

सारिका प्रवीना॥ छल छल॥
कितना सुकुमार हृदय
कठिन विरह बेला

छिन्न तार हो न जाय
कहीं हृदय वीना
मन का संदेश कहीं
रह न जाय कहीं मन में
अधरों पर हास रहे
अश्रुजल नयन में
प्रियतम के सपनों में
चितवन लवलीना॥ छल छल०॥

17–3–1958

केरल[1]

मुझे गर्व है उस केरल पर
पहली बार जहाँ खग्रासी तमचर हारे,
भीति–भार के अंधकार के ढहे कगारे,
सूर्यमुखी आलोक–गरुण ने पंख पसारे,
दहक उठे दाड़िम–विद्रुम–दृष्टा अंगारे,
उस केरल पर–
वहाँ मुक्ति का केतन फहरा,
धूसर धरती पर सोने का सागर लहरा।

उस केतन–सा लहक रहा है जन–मन–जीवन।
उस सागर–सा लहर रहा है जन–मन–जीवन॥

मुझे गर्व है और हर्ष है उस केरल पर,
आशा के अरविन्द खिले हैं जिस केरल पर॥

19–3–1958, रात

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

बनैला अंधकार[1]—एक

यह अवाक आकाश
सितारों के प्रकाश से
मंद हास कर रहा
बनैले अंधकार के
सुअर देखकर
चढ़े हुए अवनी के ऊपर;
पानी का छप-छप विलास-स्वर
सुअरों पर चाबुक चटकाता,
थकी-थकी साँसें लेता है;
और हवा सन्नाटा मारे
कैद खड़ी है, इस रहस्य में।
मेरी आत्मा
चली गई है, लकड़ी लाने
बूढ़े वन के किसी भाग में
और किसी जुगनू से थोड़ी आग माँगने।

23-3-1958, रात 10 बजे

बनैला अंधकार—दो

आसमान तारों से मंडित फिर भी व्याकुल और दुखी है
ज्योति नहीं है उसमें इतनी
जो तम के सुअरों को मारे
और हाँक दे
उन्हें भूमि से
केवल पानी
तेजधार से
उन सुअरों को मार रहा है स्वर प्रहार से
बड़ी जोर से छप-छप करता

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा। इस कविता का दूसरा संशोधित रूप भी है, जो ''बनैला अंधकार—दो'' शीर्षक से दी गई है। (सं०)।

और हवा सन्नाटा मारे
इस रहस्य को देख रही है
चूप है वह भी और विकल है
जैसे कायर!
मेरी आत्मा
ऐसे में ही चली गई है
बूढ़े वन से लकड़ी लाने
और जुगुनुओं से थोड़ी-सी
आग माँगने
ताकि वहाँ से वापिस आकर
आग लगा दे
अंधकार को।

23-3-1958

मेरी तुम तो आज नहीं हो[1]

पहचानी हो,
लेकिन फिर भी अनजानी हो,
क्योंकि आँख में भूरापन है
और गाल में उजड़ापन है;
ओठ बुझे हैं;
किसी मेरु की पगडंडी हो;
और कहीं अपनी आत्मा को रख आई हो।

तुम हो लेकिन-
मेरी तुम तो आज नहीं हो।

23-3-1958, 11.30 बजे रात

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

यह क्षण[1]

यह क्षण आया
बैठ गया पाषाण खंड पर, इन पलकों पर
और लटें फैलाए अपने अंधकार की–
जकड़ चुका है
बुरी तरह से तन को मन को[2]
यह क्षण आया, बड़ा बुरा है
यह तापस-क्षण मुझे विरागी बना रहा है
छवि से मुझको हटा रहा है
तेज चलाओ समय की सुई
इसे हटाओ।
ऐसे क्षण को नमस्कार है।

23-3-58, रात 1 बजे

कंपित पानी[3]

कंपित पानी
पड़ा रेत पर
कुचल गया है,
जैसे मेरा
हृदय पाँव से
कुचल गया है।
मैं रोता हूँ
इस पानी के दब जाने से,
और कुपित हूँ
दुष्ट पाँव पर

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा
2. कविता की तीसरी, चौथी और पाँचवीं पंक्ति का दूसरा पाठ भी मिलता है—'इसकी काली लटें पड़ी हैं पीठ पार्श्व पर/इसकी संज्ञाशून्य देह है/इसके लोचन ध्यानलीन हैं।' (सं०)
3. शीर्षक संपादक द्वारा

जिसने कुचला
मेरे दिल को।

24-3-1958, रात 9.30 बजे

मेरे फूल न छीनो[1]

तुम मेरी आवाज छीन लो
चाहे मेरा विभव छीन लो,
लेकिन इस धरती के
मेरे फूल न छीनो;
जिन्हें देखकर मैं मनुष्य हूँ,
जिन्हें चूमकर मैं आत्मा हूँ–
खिली चाँदनी रातों के भीतर से निकली,
धुली-नहाई–
हँसती-गाती और बोलती।

24-3-1958, 10 बजे रात

बच्चे की आँखों का काजल[2]

बच्चे की आँखों का काजल
मन पर मेरे फैल गया है
यह कोमल, नादान अँधेरा
मुझको प्रिय है।

24-3-1958, 10 बजे रात

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा

आलिंगन[1]

क्या जो तुम हो
वह भी मैं हूँ?
इसीलिए क्या
हम मिलते हैं
आलिंगन में
सह-चिन्तन में?

25-3-1958, 11 बजे रात

मिलन[2]

छुओ–छलको
मिलो मुझसे गीत गाकर
मिलें जैसे नदी-सागर
पास आकर

27-3-1958

नई लहरें[3]

सिन्धु की संवेदना में मेरु डूबे
मौन गूँगे, वृद्ध ऊबे
और सिर पर नई लहरें
दौड़ती हैं बिना ऊबे।

27-3-1958, 19.15 बजे रात

1, 2, 3. शीर्षक संपादक द्वारा

यह बच्चा[1]

यह बच्चा इतना सुन्दर है
जितना सुन्दर लाल कमल है
जिसके नीचे सोया जल है
ऊपर रवि का आतप तप है
इस बच्चे-सा
देश हमारा
खिला कमल है।
इसी कमल के लिए हमारा
हृदय विकल है॥

27-3-1958, 10 बजे रात

अंगारी आँखें[2]

वे सचेत अंगारी आँखें,
अपनी पलकें बंद किए हैं।
यही दशा है-उन वीरों की
जिन्हें नींद आ गई सवेरे॥

27-3-1958, रात 10.15

सरक गई वह भुजबंधन से [3]

सरक गई वह भुजबंधन से रस की उमड़ी सरिता
बड़ी देर तक जिसे ग्रहण मैं किए रहा था सुख से
आलिंगन में, आँखों का अधरों का चुम्बन लेते,
माँसल अंगों के अंगूरों की बहार में खोया।

28-3-1958, शाम छः बजे

1,2, 3. शीर्षक संपादक द्वारा

फूलों के रस-रूप-गंध की उठी तरंगें[1]

फूलों के रस-रूप-गंध की-
उठी तरंगें
मैने देखीं

तरुओं की ऊँचाई तक,
उससे भी ऊँचे,
और गगन की ऊँचाई तक,
उठी तरंगें,
मैंने देखीं, इस वसन्त में,
जैसे पहले, कभी न मैंने इन आँखों से
अब तक देखीं

लहरें थीं,
या वे परियाँ थीं
इस अवनी के स्वप्नलोक की,
जो अनन्त की ओर चली थीं-
दल-की-दल-
अपने यौवन के पंख खोलकर,
नील रहस्यों के विराट को वश में करने
और उसी में लय होने को।

याद रहेगा मुझे जन्म भर
मेरी अवनी के रंगों का,
रस-रागों का, गंधों का नभ में लय होना,
और मुझे सम में ले जाना-
इस दुनिया से बड़ी दूर तक ऊँचे।

30-3-1958, रात 9 बजे

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

आकाश और धरती[1]

हंस है आकाश
धरती सेब है
और यह दोनों सनातन सत्य हैं
आदि में थे और अब भी आज हैं
और आगे भी रहेंगे
शेष चाह कुछ नहीं बाकी रहे।

1-4-1958, 9 बजे रात

प्यासी धरती की पुकार सुनता है बादल[2]

प्यासी धरती की पुकार सुनता है बादल
और बरस पड़ता है जैसे
प्यासी युवती की पुकार सुनता हूँ मैं भी
और बरस पड़ता हूँ वैसे

व्याकुल नदियों की पुकार सुनता है सागर
और उमड़ पड़ता है जैसे
व्याकुल छवियों की पुकार सुनता हूँ मैं भी
और उमड़ पड़ता हूँ वैसे

प्यारे फूलों की पुकार सुनता है भौंरा
और चूम लेता है जैसे
प्यारे ओठों की पुकार सुनता हूँ मैं भी
और चूम लेता हूँ वैसे

1-4-1958, 10 बजे रात

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा

इक्के का घोड़ा[1]

अड़ियल मरियल
इक्के का घोड़ा भूखे का सपना
खींच रहा है बोझ जिन्दगी का भारी-सा अपना
ऊबड़-खाबड़ सड़क हिलाती है हाड़ों का ढाँचा
टूट रहा है चाबुक खाते अब खलरी का खाँचा॥

5-6-1958, 9.30 रात

प्यार[2]

प्यार चाहे जिसका हो
इसका या उसका हो
झोंक में नहीं हुआ-
न होता है
धूप में, हवा में हुआ
होता है
मैंने यही देखा है
आदमी पखेरू में
हार के चरेरू में

5-6-1958, 2 बजे रात

वर्षा[3]

हे तन लतिके!
यह देखो
कैसा जल बरसा!
धार-धार कर
लगातार कर

1,2,3. शीर्षक संपादक द्वारा

छम-छम बरसा
टप-टप बरसा
आर-पार रस ही रस बरसा
अवनी का मन हरसा

22-6-1958, दिन

हे मेरी तुम!।

हे मेरी तुम!-
इसीलिए तो सजल मेघ ने
चार महीने
इस धरती को जल से सींचा
और बनाया इसके तन को रस से भीना
जिससे शरदागम में धरती बने छबीली
खिले फूल के गहने पहने-
वन-वन, गिरि, उपवन सब महके,
रेशम-झीनी शुभ्र चाँदनी जब शशि बरसे
भारान्वित यौवन की गगरी यह ढरकाए,
रूप लुटाए,
हिरनों की नव काम-विसुध आँखों से निरखे,
बरबस हृदय हमारा हर ले।

23-6-1958, दिन

हे मेरी तुम!

हे मेरी तुम!
सत्य कहा जो युग-पुरुषों ने, हवा हो गया।
धर्मों का भी सत्य बिकाऊ दवा हो गया॥
मँजते-मँजते मँजा सत्य अनमँजा हो गया।
अँजते-अँजते अँजा सत्य अनअँजा हो गया॥

23-6-1958, रात

हे मेरी तुम!

हे मेरी तुम!
बड़ी देर से
एक डाल पर
छोटी चिड़िया
चहक रही है।
बोली क्या है?–
उर पर मेरे
मधु की बूँदें
टपक रही हैं।
क्या तुमने यह
मधु भेजा है
मेरे खातिर
चिड़िया द्वारा?
यह मधु मुझको
अधरपान में
कठिनाई से
तुम देती थीं।
आज दूर हो
इसीलिए क्या
तुम कृपालु हो
इतनी मुझ पर?

23–6–1958, रात

हे मेरी तुम!

हे मेरी तुम!
यह जो मेरा वर्तमान है–जिसमें तुम हो : मैं हूँ : और हमारा सब है
मेरे अतीत से अब भी, और तुम्हारे व्यतीत से अब भी पूरा ही जुड़ा है
कल के मृणाल का यह वर्तमान शतदल है
मृणाल तो कीच में गड़ा है और कमल धूप में खिला है

इसी कमल का पराग-परिमल मेरा भविष्य है और तुम्हारा भविष्य है
हम दो नहीं, त्रिकाल की इकाई हैं, अजर अमर सत्
शिव औ' सुन्दर।

25-6-1958, रात

हे मेरी तुम!

हे मेरी तुम!
इसी सड़कों पर रोज सबेरे
चलते-चलते
हमें साल-के-साल हो गए
तले हमारे जूते के बेहाल हो गए
लेकिन चलना नहीं छूटता
चलने का क्रम नहीं टूटता
क्योंकि यहाँ के पेड़ वही
पर फूल-पात की बनक नई है
क्योंकि यहाँ की वायु वही
पर बार-बार की छुअन नयी है

25-6-1958, रात

बीवीजी की चतुराई[1]

ठीक चार पर,
जब एलार्म टन्नाया,
और घड़ी चिल्लाई,
नींद हमारी हवा हो गई।
हमने पूछा :
किसने घड़ी बजाई?

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

मालूम हुआ कि बीवीजी ने
की थी यह चतुराई।
फिर क्या सोते! इसी बहाने,
तभी गए हम नदी नहाने।

26-6-1958, दिन

छोटी-सी तनख्वाह हमारी[1]

छोटी-सी तनख्वाह हमारी,
मुट्ठी-भर की जैसे चिड़िया,
उड़ जाती है फुर से जल्दी,
वह इतना डरती है हमसे
और हमारे खाली घर से
नहीं सात दिन भी टिकती है।
अठवें दिन से तीस दिनों तक
नहीं सुहाता हमको जीना,
घर-बाहर लगता है सूना!
फिर कब आए, फिर कब आए
मुट्ठी-भर तनख्वाह हमारी
यही फिकर हमको रहती है।
लेकिन पहली को जैसे ही
वह आती है हाथ हमारे
हम फिर गाने लग जाते हैं;
जीने में जादू होता है,
बीवी भी अच्छी लगती है,
बच्चे भी अच्छे लगते हैं।

13-7-1958, दोपहर

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

प्रकाश अभी गया नहीं[1]

बाँहों से
उरोजों से
ओठों से
लिपटा हुआ
दीपक का प्रकाश अभी
दिन में भी बिछुड़ा नहीं
मंत्र-मुग्ध ऐसा उसे
रजनी में तुमने किया।
दीपक तो चला गया
लेकिन वह
प्रकाश अभी
गया नहीं।

18-7-1958, शाम

मैदानी हवा[2]

यह मैदानी हवा
चाल चलती इठलाती
फेन-फूल-पत्तों-सी आती
और उड़ाकर
अपने साथ मुझे ले जाती
वहाँ जहाँ रंगों में बोरी
नदी किनारे
खड़ी हुई है मेरी गोरी-
बाँह पसारे
साँझ सकारे।

6-10-1958, रात

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा

सितार वादन सुनते हुए[1]

वह सितार को तार-तार को बजा रहा था।
बजा रहा था तार-तार को,
मंथन कर सागर से ध्वनियाँ, धूमधाम से उठा रहा था
लहरों को छल-छल उछालकर झुला रहा था
पैंजनियाँ पहने-जलपरियाँ नचा रहा था
संसृति को पुष्पक विमान पर उड़ा रहा था
लोक-लोक दिक्देश-काल को भुला रहा था
समर-क्षेत्र में वाण वीर-सा चला रहा था
विजय-वारुणी अधोरात्रि में पिला रहा था
मारुत-सा पर्वत की सत्ता हिला रहा था
उद्गम से उमड़ी नदियों को बुला रहा था
मन-मतंग को कजली-वन में घुमा रहा था
पर्वत के कंधों पर बादल झुमा रहा था
वह सितार को तार-तार को बजा रहा था

गोरी को गोदी में सुख से लिटा रहा था
मुख निहारकर मुख पर चुम्बन लुटा रहा था
खिले कमल को अपने उर से लगा रहा था
बार-बार दीपों की माला जला रहा था
दीपों की माला से सोना गला रहा था
गालों पर लज्जा की लाली लगा रहा था
निंदियायी आँखों में यौवन जगा रहा था
डालों पर पल्लव-प्रसून को खिला रहा था
मधु-लोभी भौंरों का गुंजन गुँजा रहा था
बीती बातों की सुगन्ध को सुँघा रहा था
तन को तन से मन को मन से मिला रहा था
वह सितार को तार-तार को बजा रहा था

रथ को पथ पर वायु-वेग से चला रहा था
नक्षत्रों से अपना परिचय बढ़ा रहा था

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा।

धूल धुएँ-सी पीछे-पीछे उड़ा रहा था
नभ-गंगा में जाकर जल में नहा रहा था
गजमुक्ता से स्वर के छींटे उड़ा रहा था
देवों का पीयूष प्राण को पिला रहा था
मनुज-तत्व को सूक्ष्म बनाकर जिला रहा था
जड़-चेतन का भेद मिटाकर मिला रहा था
लय में लय कर प्रलय-काल को मिटा रहा था
देही को सौरभ सा देही बना रहा था
सौरभ-से रागों को मन में बसा रहा था
वह सितार को तार-तार को बजा रहा था

4-11-1958, शाम से 9 बजे तक

जीवन[1]

न सही-न गलत-
फिर भी गुणा-जोड़-बाकी
और भाग जीवन है,-
जहाँ कोई हाथ लगा
और कोई अंक मिला
शेष नहीं रहता है।

28-11-1958, 10.30 P.M.

कौवा और कबूतर[2]

कौआ जो काँव-काँव करता है
न मारा जाता है-न मरता है
जैसे वह अजर-अमर दानव है।

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

लेकिन जो गुटरगूँ कबूतर है
मार भी खाता और मरता है
जैसे वह क्षण भंगुर मानव है।

28-11-1958, 11.15 बजे रात

उनकी सुधि आती है[1]

उनकी सुधि आती है
जिनको गत फागुन में
फूलों का मौर धरे
जंगल में खड़े हुए
दूल्हा-सा देखा है।

2-12-1958, रात 10.30 बजे

वसीयत[1]

मैं फूलों से और फलों से जब लद जाऊँ
रोम-रोम से पोर-पोर से जब पक जाऊँ
तब कंधे पर चढ़ा मौत के चलूँ शान से
रूप-राग-रस-गंध दान दूँ मैं गुमान से

17-12-1958 (शाम : डॉक्टर[2] को पत्र लिखने के बाद)

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा
2. डॉक्टर, रामविलास शर्मा

धूप चुराए गेंदा[1]

'धूप चुराए गेंदा फूला है' गरीब के दरवाजे पर,
शाम साँवरी सोने का कण्ठा पहने है बड़े चाव से;
संपादक की आँख देखती है सोने के इस कण्ठे को,
जिसे देखकर धरती का यौवन जीवन में छा जाता है।[2]

17–12–1958

सारंगी सुनकर

योगलीन शिव की मुद्रा में वादक बैठा,
भोग–भवानी की सारंगी लिए गोद में
कला–कुशल हाथों से तन्मय बजा रहा है
आदि भूत को राग–बोध की परिसंज्ञा दे
जो न कभी अब तक उपजे थे भाव भूमि में
वह अणु–अणु से अब उपजे हैं अंकुर जैसे
गजदंती–वैदूर्यमुखी–कलहंस शरीरी
लाखों की संख्या में सोने के प्रकाश में
मैं भी रहा न पिंड पठारी, सिंधु हो गया
सारंगी के स्वरारोह में लहरें लेता
महाकाश की ओर उमड़ता महावेग से
शशिशेखर के अभिन्दन में गूँज उठा हूँ
महाकाल भी द्रवीभूत हो गया स्वरों से,
भूल गया अपनी जघन्य दुर्दम लीलाएँ
कर से छोड़, कुठार, शरद के तरल ताल का
नवजीवन के गंध–राग का कमल हो गया
बजती रहे सुमुखि–सारंगी इसी भाव से

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा
2. यह कविता केदारजी ने डॉ० रामविलास शर्मा को, उनके पत्र के उत्तर में लिखे पत्र में, लिखी थी—'रामविलासजी के पत्र को आधार बनाकर, उसी की पंक्तियाँ लेकर।' (सं०)

गलती रहे जटिल जड़ता भी इसी भाव से
चेतनता फूले सरसों-सी इसी भाव से
शम्भु-भवानी मिलें कंठ से इसी भाव से

30-12-1958, रात

रात

अंधकार की आँखें नभ में टिमक रही हैं
उसका भारी जंगल जग पर छाया ताने
मौन खड़ा है, और नदी धीरे बहती है
पलकों के अन्दर निंदियायी हुई धार से

24-1-59, रात

दलाई लामा के आने पर

हम लामा हैं।
हम अवतारी महामहिम हैं।
हम आए हैं देश त्यागकर,
हमें जगह दो
हम आए हैं धर्म बाँधकर,
हमें बचा लो।

हम भारत की पुण्य भूमि पर टिके रहेंगे;
खाते-पीते धर्म औंटते जिया करेंगे;
और नहीं कुछ किया करेंगे।
जो तुम हम पर खर्च करोगे,
स्वाभिमान से हम उसको स्वीकार करेंगे;
बदले में हम-निश्चय जानो-
आत्मा का अरुणोदय देंगे।
लासा क्या था-एक नगर था

जहाँ हमें रहना था इससे हम रहते थे
वह छोटा सा–क्षुद्र नगर था,
हमें नगर से नहीं–धर्म से बहुत प्यार है,
इसीलिए हम नगर छोड़कर, देश त्यागकर
और वहाँ के उन्नत शिखरों को बिसारकर
सच्चे पथ से भारत में बसने आए हैं।

कहना मानो–देश बदलना धर्म-दृष्टि से बुरा नहीं है;
देश-प्रेम तो नंगे-भूखों का प्रमाद है;
हम लामा हैं।
हम अवतारी महामहिम हैं
देश-प्रेम के इस प्रमाद से हम विरक्त हैं
बुद्धं शरणं हम रहते हैं;
धम्मं शरणं हम रहते हैं;
भिक्षुक हैं हम–भिक्षुक का घर सारा जग है
भारत हो या हो अमरीका।
अत: हमें तुम श्रेष्ठ समझकर श्रेष्ठ जगह दो
और हमारे शुभागमन में
राजनीति से आँखें मूँदो;
और चीन से मैत्रीवाला हाथ खींचकर
उसी हाथ से हाथ मिलाओ हमसे।
तुम उदार हो, हम महान् हैं,
हम ही केवल मैत्री करुणा के प्रतीक हैं।
हमसे उत्तम नहीं चीन है।
हम लामा हैं।
हम अवतारी महामहिम हैं।
हम आए हैं–
हमें साध लो[1]

18–4–59

---

1. यह कविता केदारजी ने डॉ० रामविलास शर्मा को पत्र में भेजी थी। पत्र में इसकी रचना तिथि है—18-4-59, पर पत्र पर लगी डाक मुहर से तिथि थी—14-4-59। यह कविता रामविलासजी ने संपादक को लिखाई थी—1986 में बाँदा में सम्पन्न 'सम्मान : केदार' के अवसर पर। (सं०)

किसान-स्तवन[1]

तुम जो अपने हाथों में विधि से ज्यादा ताकत रखते हो
मेहनत से रहते हो, खेतों में जाकर खेती करते हो
मेड़ों को ऊँचा करते हो, मेघों का पानी भरते हो
फसलों की उम्दा नसलें हर साल नयी पैदा करते हो
लाठी लेकर रखवाली सबकी करते हो
कजरारी गौओं के थन से पय दुहते हो
फिर भी मूँड़े पर गोबर लेकर चलते हो
तुम जो धन्ना सेठों के तलवे मलते हो
तुम जो छाती पर पत्थर रक्खे जीने का दम भरते हो
अन्यायों से जोर-जुलुम से मुट्ठी ताने लड़ मरते हो
तुम जो ठगते नहीं ठगे सब दिन जाते हो
तुम जो सरकारी पेटी में टैक्सों में पैसा भरते हो
अफसर के वेतन को अपने लोहू देकर मोटा करते हो
थाने की ड्योढ़ी पर जाकर बकरे जैसा कट आते हो
मेहनत की मस्ती में ज्ञानी-विज्ञानी को शरमाते हो
तुम जो मेहनत की गेहूँ जौ की रोटी खाते हो
तुम जो मेहनत की भद्दर गहरी निंदिया में सो जाते हो
तुम अच्छे हो तुमसे भारत का भीतर-बाहर अच्छा है
तुम सच्चे, तुमसे भारत का सुन्दर सपना सच्चा है
तुम गाते हो, तुमसे भारत का कोना-कोना गाता है
तुमसे मुझको मेरे भारत को जीवन का बल मिलता है
तुम पर मुझको गर्व बहुत है भारत को अभिमान बहुत है
यद्यपि शासन तुमको क्षण भर का कोई मान नहीं देता है
तुम जो रूसी-चीनी-हिन्दी मैत्री के दृढ़ संरक्षक हो
तुम जो तिब्बत चीन-एकता के विश्वासी अनुमोदक हो
तुम जो युद्धों के अवरोधक शान्ति समर्थक युग धर्मी हो
मैं तो तुमको मान-मुहब्बत सब देता हूँ
मैं तुम पर कविता लिखता हूँ
कवियों में तुमको लेकर आगे बढ़ता हूँ
असली भारत-पुत्र तुम्हीं हो

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

असली भारत-पुत्र तुम्हीं हो
मैं कहता हूँ।

22-4-1959, रात 8 बजे

सावन का यह माजरा[1]

रिमझिम बरसे बादरा
कनखी मारे काजरा
बेड़िन पहने घाँघरा
नाचे, गावे दादरा,
समझ न पावे आँधरा
सावन का यह माजरा

13-9-1959

मौन में जो गीत....[2]

मौन में जो गीत तुमने भर दिये थे
कभी गाये हुए बीते किसी युग में
वे पुरानी हड्डियों से निकल आये
फोड़ कनखे,
नये युग के मौर बनके।

15-9-1959

अमलतास फूला है वन में [3]

अमलतास फूला है वन में
पीला चीवर पहने तन में

1, 2,3. शीर्षक संपादक द्वारा

इस धरती के बौद्ध भिक्षु को
काम-क्रोध के इस भुभुक्ष को
विश्व-शान्ति का साधुवाद है
पंचशील का धन्यवाद है
इसको मेरा अमित प्यार है
समर-विरोधी नमस्कार है

30-9-1959

भूमिजा के लिए[1]

अपार दिक्-प्रसार तक फैला हुआ
उद्दाम आवेग से आलोड़ित, निर्बाध निरंकुश सागर-
अगण्य उत्ताल तरंगों से उछाल-पर-उछाल लेता हुआ,
विशाल विकराल नागराज की भाँति,
असंख्य-असंख्य वर्तुल वर्द्धमान करवटें लेता हुआ,
अतल से सतह तक-सतह से अतल तक,
सर्वांग सम्पूर्ण संत्रस्त और विपर्यस्त होता हुआ,
उच्छल, अधीर नीर के नीलम पहाड़ों पर
मदांध गजयूथों की भाँति बज्रांग मेघों से
क्षण-पर-क्षण घोर घमासान युद्ध करता हुआ;
और फिर और ध्वंस-विध्वंस का प्रबल प्रतापी प्रलम्ब रोर
मंद्र-से-मंद्रतर चारों ओर बारम्बार करता हुआ,
अम्बर में-अवनी में-मारुत में हाहाकार भरता हुआ,
रावण से हरी हुई,
राघव से परित्यक्त सीता की मनोव्यथा,
त्रेता से अब तक, क्षण-पर-क्षण-
वाल्मीकि के ओजस्वी और तेजस्वी छंदों से
गरज-गरजकर कहता है,
और जब तक संसार में राम और रावण का
नाम जीवित रहेगा

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

तब तक गरज-गरजकर बारम्बार
क्षण-पर-क्षण कहता रहेगा,
सर्वांग संत्रस्त और विपर्यस्त
उच्छल और अधीन होता रहेगा,
और भूमिजा के लिए
काल के मूक और वधिर तट पर
फन पटक-पटककर पछाड़ खाता रहेगा।

2-10-1959

प्रसन्न बकुल[1]

जब डाल की डाल बकुल प्रसन्न होता है
जब अंग का अंग जवान हुआ सौन्दर्य प्रसन्न होता है
तब मेरा मनुष्य की योनि में जन्म लेना सार्थक हो जाता है
मैं इन्हें देखकर सदैव-सदैव वसन्त में जीना चाहता हूँ
मैं यहीं जन्म-जन्मांतर तक इसी लोक की माया में रहना चाहता हूँ।
मैं नहीं जाना चाहता हूँ जन्म-जन्मांतर तक किसी स्वर्ग की माया में
मुझे प्रसन्न बकुल-प्रसन्न सौन्दर्य से अधिक
कुछ भी प्यारा नहीं है
मुझे इसी का सहारा है
और किसी का कुछ भी सहारा नहीं है

जब आद्यन्त क्षितिज छोरों तक फैला हुआ
गहरा नीला आसमान
प्रभात के भास्वर रंगों से अनुरंजित होकर
आदि देव महादेव की भाँति
रोम-रोम से प्रसन्न होता है
जब वन-पर्वत, नदी-नद और सप्त सिन्धुओं की
यह चिरायु वसुन्धरा
अपने आप में षट्ऋतुओं को समोये हुए

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

अंग-प्रत्यंग से मनोहर होकर
आदि सती पार्वती की भाँति
पुलकाकुल और प्रसन्न होती है
तब मेरा मनुष्य की योनि में जन्म लेना
सार्थक हो जाता है
और मैं इन्हें देख-देखकर
जन्म-जन्मांतर तक जीने की इच्छा करता हूँ।

7-10-1959

गाया हुआ गीत[1]

गाया हुआ गीत
शरीर में आए हुए यौवन की तरह
मदांध हो गया
और नदी में नहा रहे हाथी की तरह
सूँड़ से जल की फुहार फेंकने लगा।

गाया हुआ गीत
घोसलों से निकल आए कपोतों की तरह
हवा में उड़ने लगा
और विराट गहन कानन को छापकर
मोहिनी माया से गुटर गूँ करने लगा।

गाया हुआ गीत
गुलमोहर के प्रलम्ब पेड़ों की तरह
छतनार हो गया,
और फूल-फूलकर, फगुआरों की तरह,
उदार अवनी से फूलों की होली खेलने लगा।

गाया हुआ गीत
विरही राम की तरह सीता के लिए

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

अधीर हो गया
और विशाल कमल-नयनों से बड़े-बड़े
आँसू की तरह,
आवागमन के मार्ग पर, टपाटप टपकने लगा।

गाया हुआ गीत
सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और तरल-से-तरलतर
आकाश हो गया
और आकाश में फैलकर फूलने वाली
चेतना का प्रकाश हो गया।

10-10-1959

प्रकाश के भास्वर रंगों से भासमान....[1]

अन्तरक्षि से आद्यन्त क्षितिज-छोरों तक
प्रकाश के भास्वर रंगों से भासमान
जब गहन-से-गहन नील नभोमंडल
अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों तक से
सविस्तार प्रफुल्लित हो उठा,
और जब अंग-प्रत्यंग से
मनोहरा हुई चिरायु वसुन्धरा भी,
जल-थल-अनिल-अनल तक से
सविशेष सुगंधित हो उठी
तब मैंने उन्हें शिव और पार्वती के समान
सुख-सम्भोग में परस्पर एक होते देखा
और मनुष्य की योनि में
मेरा जन्म लेना सार्थक हो गया,
मैं आकाश और अवनी के इस मिलाप से
कृतार्थ हो गया।

13-10-1959

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

नया जन्मदिन[1]

नए होनहार सुनहरे दिन को प्राची में जन्म देकर
रात अपने इस सुकमार बेटे को श्याम कमल-पत्र पर
लिटाकर, मुँह मोड़कर पछताती हुई रोती चली गई
और नया जन्म दिन हजारों पलक-पंखुरियाँ खोलकर
उदास शाम के मंद-मंद आने तक मुस्कुराता रहा
लेकिन जब बेटे से बिछुड़ी रात से अधिक न रहा गया
तब वह ममत्व से विकल बरबस दौड़कर फिर लौट आई
और कमल-पत्र पर लेटे हुए अपने सुकमार शिशु को
अंक में उछाह से भरकर मुग्ध-मन प्यार करने लगी।
और तब तक अंक में छिपाए हुए दुलार करती रही
जब तक पौ नहीं फटी और वैरी रवि फिर नहीं आ गया
वैरी ने प्रखर बान मारे नहीं कि रात फिर चली गई
फिर अपने सुकुमार बेटे को कमल-पत्र पर लिटा गई
फिर नए जन्मे दिन ने हजार पलक-पंखुरियाँ खोल दीं
मगर रवि कमल-पत्र पर पड़े बेटे का बैरी नहीं
वह उसे अपना पुत्र मानकर ही आशीष देता रहा।

19-10-1959

अँखुए[2]

खेतों में बोये हुए बीजों के अँखुए
गर्भ से प्रकाश में असंख्य-असंख्य निकले,
श्वेत, नीले, रक्ताभ, पीत और प्रवाली,
भिन्न-भिन्न रूप और भिन्न-भिन्न भाव के,
कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई मँझोला।
लेकिन तमांध से दूर, जीवन का एका
साम्य और शील आपस में बनाये हुए,
आकाश के हीरक नक्षत्रों से झलके;

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा

जैसे वे सगर के साठ हजार पुत्र हों।
मैंने इन्हें देखकर इनकी छवि चूम ली,
और भाग्य को सराहता मैं घर चल दिया
मन में सौम्य शान्त अँखुओं की सुगंध लिये।

20–10–1959

भूमि धन्य हुई[1]

कई–कई माटी चले, खाए हुए चारे और भूसे के,
काले कपिश, धौरे, नील बैलों की जोड़ियों को नहे हुए,
काठ के हलों में लोहे की नुकीली तेज कुसियों से,
खाली भूमि इंच–इंच पूरी जोत डाली बड़े खेतों की
ताव–खाए हिम्मती किसानों ने, दिगन्त–व्यापी आशा से,
और कोटि–कोटि प्यारे बीज बोए खाद–खाए खेतों में।
भूमि धन्य हुई, और पावन प्रसन्न हुई, कांति बढ़ी चमकी,
जैसे वह धैर्य–धीरे गर्भवती परम पवित्र सीता हो।

20–10–1959

बेला[2]

तब हुआ जन्म
तब मदन हुआ भस्म
भूमि पर गिरी कमान
कमान गई टूट
एक खंड हुई मूँठ
रात के झरे आँसू
मूँठ ने पिए आँसू
मूँठ से उगा पेड़

1, 2.शीर्षक संपादक द्वारा

पेड़ में खिले फूल
फूल का नाम पड़ा बेला
बेला है फूल अलबेला

22–10–1959

प्रिय है मुझे जीवन[1]

प्रिय है मुझे जीवन–
और प्रिय हैं मुझे जीवन की भृकुटियाँ,
सघन हों या विरल,
कुटिल हों या सरल,
प्रिय है मुझे जीवन
और प्रिय है मुझे जीवन की झलकियाँ।

प्रिय है मुझे जीवन–
और प्रिय हैं मुझे जीवन की पंखुरियाँ,
परुष हों या विरस,
मृदुल हों या सरस,
प्रिय है मुझे जीवन
और प्रिय हैं मुझे जीवन की थपकियाँ।

26–10–1959

हम हीरों की कुहनियाँ[2]

हम हीरों की कुहनियाँ अपने और वंशजों के लिए ही
स्वभाव से और परम्परावश भी कोमल और उदार हैं
मगर जिन्हें हमारी कोमलता और उदारता की बेहद दरकार है
स्वभाव से और परम्परावश भी हम उनके लिए कठोर और अनुदार हैं।
हमारा विलास हमारी लक्ष्मी के अनन्त वैभव का विलास है

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा।

हमें छोड़कर हमारी लक्ष्मी कभी भी अन्यत्र नहीं जाना चाहती
हम समस्त उत्तरदायित्व से मुक्त हीरों की चमकदार कुहनियाँ हैं
जब सूर्य का प्रकाश और प्रकृति का असीम उल्लास
बाँस और काठ की कुहनियों को भरपूर पीने को मिलता है
तब हमारा अपना प्रकाश और उल्लास, वैभव और विलास
बाँस और काठ की कुहनियों की दया और दान में भी
हमसे नहीं मिल सकता।
हम हीरों की कुहनियाँ बाँस और काठ की कुहनियों से भिन्न हैं
हमारा विश्वास है कि संसार हम हीरों की कुहनियों पर टिका हुआ है
हम हीरों की कुहनियों का इतिहास सौन्दर्य, सुख और प्रेम का इतिहास है
हमारी गर्वोक्ति है कि हम हीरों की कुहनियाँ
विस्मृत से स्वर्ग को सम्हाले हैं।

29–10–1959

जो निरस्त्र हैं[1]

मैं उन सबका कवि-मित्र हूँ जो निरस्त्र हैं
लेकिन जो कर्तव्य से विमुख नहीं–एक कदम भी पीछे नहीं,
हुआ चाहे जो हो।
न सही अस्त्र या शस्त्र : वे हाथ से लड़ते हैं,
इंच-इंच ज़मीन पर घुटने टेककर आगे बढ़ते हैं।
तभी तो मैं अपनी शस्त्रशाला में–हृदय की इस यज्ञशाला में,
आग की अपनी भट्टी में शब्दों को तपाता हूँ
और तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण अस्त्र और शस्त्र उन शब्दों से बनाता हूँ,
कि मैं उनको दूँ वे अस्त्र और शस्त्र जो निरस्त्र हैं
कि वे वर्तमान और भविष्य की लड़ाई लड़ें जो असहाय हैं
कि वे शान से विजय प्राप्त करें जो अभी तक हारे ही हारे हैं
मुझे गर्व है कि मैं उन सबका कवि-मित्र हूँ जो निरस्त्र हैं

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

मुझे गर्व है कि मेरे शब्द अस्त्र और शस्त्र की तरह कारगर होते हैं
मुझे गर्व है कि मैं भी, सबकी लड़ाई में, सबके साथ हूँ।

29–10–1959

यह असत्य नहीं[1]

यह असत्य नहीं कि हम सबने अपनी सुरक्षा में
बलात् दूसरों की सुरक्षा का हनन किया है,
और हम सबने
अपने दैनिक उत्तरदायित्वों से मुँह चुराकर,
अपने व्यक्तित्वों को उतारकर,
अँधेरे कमरों की खूँटियों पर टाँग दिया है।

यह भी असत्य नहीं कि हम सबने
स्वार्थ के आक्रमण से
सशक्त और तनी रीढ़ों के समुदाय को
धराशायी किया है;
और हम सबने सुनहरी सुशील फसलों को
कठोर पदाघात से कुचल दिया है;
स्वार्थ हमारा भगवान है,
सर्वनाश हमारी नवधा भक्ति।

यह भी असत्य नहीं कि हम सबने
निर्लज्ज देवताओं के जुलूस
बड़े धूमधाम से बड़े बाजे-गाजे के साथ निकाले हैं,
और हम सबने ऊर्जस्वल अवनी के शरीर पर
रथों के बर्बर चक्रों को चलाया–
और वसन्तोत्सव मनाया है :
हम सबने रक्त-चंदन के टीके लगाए हैं।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

एक-न-एक दिन इस सबके लिए
हम सबको पश्चाताप करना पड़ेगा
एक-न-एक दिन इस सबके लिए
हम सबको धराशायी होना पड़ेगा
एक-न-एक दिन इस सबके लिए
हम सबको कुचक्रों के नीचे दबना पड़ेगा
तब कहीं हमारी अगली पीढ़ी
ऊर्जस्वल अवनी के अंक में
वसन्तोत्सव मनाएगी।

30-10-1959

फूल जो खिला[1]

फूल जो खिला
रूप से हँसा
मूर्ति पर चढ़ा
केश में खुँसा
काल से लड़ा
ज्वाल से लड़ा
और जब झरा
बीज दे मरा।

30-10-1959

दीपावली[2]

आज हम निकाल देंगे अँधेरे को बाहर
घर से बाहर-नजर से बाहर-पहुँच से बाहर,
कतार-के-कतार दिए जलाकर,

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

दियों का पर्व मनाकर,
घर के भीतर–नजर के भीतर–पहुँच के भीतर।

आज हम बिठाल देंगे उजेले को लाकर,
बीच चौक में–मंच के ऊपर–स्तम्भ के ऊपर,
गले में फूलों की माला पहनाकर,
और गीत गाकर,
वर्ष–पर्यन्त रहने के लिए प्रसन्न, भास्वर।

31–10–1959

मैं हूँ आप ही अपनी तलवार[1]

मैं हूँ आप ही अपनी तलवार
तीक्ष्ण–चमकती–लचकदार
वार–पर–वार करती धुआँधार
दिक्काल चीरती हुई दमदार।

30–10–1959

गीतों के पाए[2]

पंख नहीं चिड़ियों के–
गीतों के पाए हैं
जिनसे हम उड़ते हैं
अम्बर
में।

30–10–1959

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा

मुस्कान[1]

मुस्कान?–
लाज की मूर्ति
और
लास का नृत्य है,
जिसे
हम
हर्ष से विभोर
किसी सुन्दरी के
ओठ और कपोल पर,
सौभाग्य से
देख लेते हैं।

31–10–1959

सेमर का पेड़[2]

विचित्र है यह सेमर का पेड़
और विचित्र है यह इसकी लीला
कि पत्ते गिराकर ही
फूलता है
और वह लाता है
तभी अपने फूल :
बड़े-बड़े फूल :
लाल-लाल फूल :
एक भी पत्ता
जब इसमें नहीं होता
और
यह होता है ठूँठ।

1–11–1959

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा

छोटी अँगुलियाँ[1]

सफेद गादी की सफेद छोटी अँगुलियाँ
दूध की गादियाँ और दूध की अँगुलियाँ
यही हैं चाँदनी के सफेद फूल
साँवली सी झाड़ी पर खिले फैले फूल

1–11–1959

कालिदास[2]

कालिदास! तुम गए
रूप, रस,
और गंध को पीकर
कर से कर शृंगार
सुमुखियों के अंगों का जी भर
मदन महोत्सव मनाकर
शिव और पार्वती के
भोग–सम्भोग को गाकर
देशकाल में रघुकुल का नया सूर्य उगाकर
अचानक काल चक्र से घसिटते
धरती की धूल से लिपटते,
कठिनता से भूमि को तजते,
केलि और काव्य के
रम्य स्थलों को
नेत्रों से सतृष्ण देखते,
निःश्वास छोड़ते,
विवश और विह्वल,
आँसू टपकाते–
कंठहार से टूटे

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा

मोतियों जैसे
बड़े-बड़े!

लेकिन तुम्हारी कविता
आज भी
षट ऋतुओं के साथ
मदन-महोत्सव में
नाचती हैं–
कमल के फूल
जूड़े में खोंसे,
पदाघात से
कदम्ब खिलाती,
नख-से-शिख तक
शृंगार किए,
हंस को गोद में लिए,
आँख में काजल आँजे।
विह्वल अधीर आज भी
जैसे बिजली।

कालिदास।
तुम्हारी कविता
अलका से उज्जयिनी तक
आज भी
बराबर आती जाती है
अपना परिचय
फूलों की सुगन्ध से
आज भी
बराबर देती है
और
रूप से मोह लेती है;
शिलाओं की
समाधि तोड़ती
और वैभव से
सगर्व विलास करती है!

कालिदास!
शकुन्तला और कोई नहीं;
वह कविता तुम्हारी है
जो कण्व के आश्रम में पली
और दुष्यंत की पत्नी हुई;
उसी को दुर्वासा को शाप लगा;
उसी की अँगूठी खोयी,
उसी को दुष्यन्त ने भुलाया
उसी की अँगूठी मिली,
उसी को दुष्यन्त ने पाया,
उसी का बेटा भरत हुआ,
जिसके नाम पर
भारतवर्ष हुआ।

कालिदास!
धन्य है तुम्हारी कविता।
धन्य है तुम्हारी शकुन्तला।
धन्य है हमारा देश
जिसमें तुम
और तुम्हारी कविता
अमर है।

2-11-1959

दिन अब भी गरम और गुदगुदा होता है[1]

दिन अब भी गरम और गुदगुदा होता है,
तुम्हारे वक्षस्थल की तरह,
सानुराग मेरे दृढ़ वक्षस्थल से सटकर,
मुझे गरमाता और रोमांचित करता है।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

हवा अब भी सुखद और कुनमुनी होती है,
तुम्हारे निःश्वास की तरह,
मेरे खुले चेहरे को सनेह से स्पर्श कर,
मुझे मंद-मंथर स्वभाव से सहलाती है।
लेकिन ये सूर्योदय और सूर्यास्त अब तो
तुम्हारे कुंडलों की तरह
प्रदीप्त होने पर भी, दृष्टि से छूने पर,
मेरे तन में शीत का संचार करते हैं।
और अब तो जाड़े की ये साँवली रातें
तुम्हारे कुंतलों की तरह
अधीर, उच्छृंखल, मेरे शरीर से लगकर,
मुझे हिमपात-सी बरबस शीतल करती हैं।

3-11-1959

टूटते हुए तारे से न पूछो[1]

टूटते हुए तारे से
न पूछो :
यात्रा का अन्त
कहाँ है?
पूछो, उससे
जो तारे के
टूटने का कारण है!
देखो
बस देखो :
तारे का टूटना,
बान-सा छूटना,
ज्योति के बेटे का
गहरे में जाकर-
कहीं डूबना।

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

समझो,
बस समझो;
कूदना ही
टूटना ही
तारे का
डूबना ही
साहसिक है–प्राकृतिक है!

16–11–1959

प्रकाश[1]

अंधेर राज का चौपट राजा अब जेल चला गया
प्यार के राजा प्रकाश ने संसार का शासन-भार सम्हाल लिया
वनस्थली रंगस्थली बनकर फूलों की सेज बन गई
निदाध से दग्ध नदियों का पानी धार पर चढ़ गया
आलोक का रंगीन विमान आसमान से उतरकर भूमि का हो गया
गीतों के गयंद झुंड-के-झुंड शृंखलाएँ तोड़कर मदांध झूमने लगे
परिव्राजक पवन लताओं के साथ वसन्तोत्सव में वन-विहार करने लगा
धूप की चितवन में बाँकपन और आलिंगन में उन्माद भर गया
अनाज की सुनहरी बालियों से खेतों के वृषभ-स्कंध साभार झुक गए
कर्म से जीवन की वाणी में मंदाक्रान्ता का बल और विस्तार आ गया
आकाश और अवनी के सम्बन्ध-सूत्र कोमल और उदास हो गए।
समान रूप से स्वर्ग के द्वार सबके लिए खुल गए
जैसे मन्दिरों के द्वार अछूतों के लिए खुल गए।
अभिजात स्वप्न का लोक-मंगल सम्राट
अमलतास का चीवर पहनकर शान्ति का दूत बन गया
ऐसा यह मैंने अनेकानेक समाचार-पत्रों में पढ़ा
मोटे-मोटे अक्षरों से प्रमुख पृष्ठों पर छपा
अब यह आप पर है कि आप विश्वास करें–न करें।

17–11–1959

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

हुआ चाहे जो हो[1]

हुआ चाहे जो हो
मयूर आया अवश्य है
कौन जाने
नाचा वह या नहीं
नाच उठा
शैशव अवश्य है।
हुआ चाहे जो हो
मतंग आया अवश्य है
कौन जाने
झूमा वह या नहीं
झूम उठा
यौवन अवश्य है।
हुआ चाहे जो हो
प्रकाश आया अवश्य है
कौन जाने
फूला वह या नहीं
फूल उठा
कुन्दन अवश्य है।

18–11–1959

विपर्यय[2]

तुम्हारा आलोक जो विष्णु का वाहन गरुण था,
जो पहले कभी सहोदर था सूर्य के अरुण का,
अब है वह केवल विद्यमान विष्णु की ध्वजा पर
अतीत की पावन स्मृति और प्रतीति का रूप धर,
और भूतल पर है अब केवल तुम्हारा अपयश,
अमल–धवल बगुलों का समुदाय स्वच्छंद नीघस

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

जो खाता है हमारी छोटी-छोटी मछलियाँ
संत्रस्त करता है हमें, खुद करता है रंगरलियाँ।

19-11-1959

वाह रे गेंदा[1]

धूप में खड़ा गेंदा,
गाँव की माटी का बेटा,
बड़ा गरबीला है गेंदा!
देखो न,
कोई नहीं धंधा,
दिन हो या संध्या,
मस्ती से हँसता है
बंदा!
वाह रे गेंदा।
वाह रे माटी का बेटा!!

19-11-1959

लकड़ी का टाँड़[2]

आरियों से चीरे गए हम,
बुरादा बने, पाट बने हम,
कीलियों पर टाँगे गए हम,
टाँड़ बने हम,
खेद है कि तुमने नहीं
हम पर हृदय रक्खा :
तुमने नहीं दीप जला
हम पर हर्ष रक्खा :

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

तुमने नहीं पंख खोल :
हम पर मोर रक्खा :
तुमने नहीं गंधपूर्ण
हम पर पुष्प रक्खा :
तुमने नहीं चकित तड़ित
हम पर कभी रक्खा :
रक्खा तो तुमने सदा
अंड-बंड रक्खा
हमको टाँड़ लकड़ी का
तुमने जो समझा!

22-11-1959

मैं हूँ वसन्त में प्रसन्न हुई पृथ्वी[1]

ओस का आर्द्र सौन्दर्य
जो मुझ पर उग आई मेरी घास को मिला
महर्षि प्रकाश का स्वागत
मैंने उस सौन्दर्य से किया।
अहोभाग्य मेरा कि महर्षि प्रकाश ने मुझको
तत्काल अपने हृदय से लगा लिया,
और सहर्ष मुझे
गुच्छ-के-गुच्छ खिले फूलों का रंगीन निर्माल्य
पहना दिया।
मैं हूँ वसन्त में प्रसन्न हुई पृथ्वी।

23-11-1959

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

बिजली[1]

निर्वाक मैं कहता रहा
और तुम सुनती रहीं मौन
कोई एक बिजली थी
दौड़ी और कह गई
बादल से निकली
और धारा में बह गई

24–11–1959

आग ने अंगार तोड़े[2]

आग ने अंगार तोड़े
और हमने आग के अंगार से
सम्बन्ध जोड़े,
उड़ चले हम
आग के चढ़ लाल घोड़े,
हाथ से हम
जिन्दगी की रास छोड़े।

24–11–1959

माथे से खरोंचकर अपना सोना[3]

माथे से खरोंचकर अपना सोना
सीने से निचोड़कर अपना सोना
डाल दिया पानी में मैंने वह सब सोना।
नहीं लिए रह सका बचाकर
मैं वह सोना।

24–11–1959

1,2,3. शीर्षक संपादक द्वारा

जो भी और जब भी....[1]

जो भी और जब भी किया तुमने इनकार
हठात् या दैवात्
जान या अजान में अस्वीकार
वही उग आया वक्ष पर
मेरे बलात्,
कंटकित झाड़ियों से
करता हुआ अपघात,
कदाचित् अनचूमे ललाम ओठों से
कुसुमित,
और निरभ्र नील लोचनों से विस्मित।

25–11–1959

मैं रोकूँगा आँधी[2]

टूटे किवाड़ का पल्ला
तो पल्ले की जगह लगाओ मुझको
मैं रोकूँगा आँधी
जो न रोक पाया किवाड़ का पल्ला
पहले भी रोकी है मैंने
दृढ़ छाती से आँधी

28–11–1959

मैं यकायक[3]

मैं यकायक
स्वप्न से बाहर निकलकर,
देहरी पर,

1,2,3. शीर्षक संपादक द्वारा

पौ फटे की रोशनी में फट गया हूँ,
और निश्चय खो गया हूँ!

मैं यकायक
साँस से बाहर निकलकर,
मेदनी पर–
साँस लेती वेदना में चुक गया हूँ,
और निश्चय खो गया हूँ!
याद मेरी मत करो मैं सो गया हूँ!!

1–12–1959

सिंधु को अस्तित्व से मथा है हमने[1]

सिंधु को अस्तित्व से मथा है हमने
और जल टटोला है अँगुलियों से हमने
कि कोई एक सीप मिले हमको
कि कोई एक शंख मिले हमको
लूट सकें कोई मोती हम लूट लें
शंख को बजाएँ

किन्तु न तो सीप मिली हमको
और न तो शंख मिला हमको
व्यर्थ हम मथते रहे सागर
व्यर्थ हम टटोलते रहे पानी।

12–12–1959

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

गाया गीत[1]

गाया गीत
विरह से व्याकुल हुए राम-सा
सीता की सुधि में अधीर हो
बड़े-बड़े राजीव नयन से
आँसू बनकर
आवागमन मार्ग पर टपका
और समय करुणार्द्र हो गया

गाया गीत
हिमालय से निकली गंगा-सा
अवनी पर फैला लहराया
उपजी हुई फसल-सा पककर
परम विनीत उदार हो गया।

गाया गीत
पवन में उड़कर
सूक्ष्म तरल आकाश हो गया,
नई चेतना के सूरज का
दिग्व्यापी आलोक हो गया।[2]

30-12-1959

तुम जीने दो हमें[3]

यह निर्गंध निमीलित उच्छिष्ठ वातावरण
-अभेद्य और असाधारण-
व्याप्त है जो वलयाकार चारों ओर हमारे आर-पार

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा
2. इस गीत का विस्तारित रूप 10-10-59 की कविता में मिलता है। इस गीत का पहला और तीसरा बंद, थोड़े पाठ-भेद के साथ 10-10-59 की कविता में है। इस कविता का दूसरा बंद 10-10-59 वाली कविता में नहीं है। (सं०)
3. शीर्षक संपादक द्वारा

और जिसमें हम हैं समाविष्ट
–संवेदनशील–साहसिक–वरिष्ठ
खोजते–से कोई एक कूल–कोई एक यान,
कोई एक छंद–कोई एक गान।
निश्चय ही इसके अवतारण के
तुम्हीं हो एक मात्र कारण
जो तुम उपजे हमारे शोणित और स्वेद से;
संघर्ष संक्रान्ति और हमारे संवेद से,
जो तुम आज जयी और विजयी हो केतु लिए,
जो तुम आज सत्ता पर सवार हो स्वार्थ का हेतु लिए,
दूसरा नहीं है कोई कारण–दैवी असाधारण।
हम पुकारते हैं तुम्हें उच्छिष्ठ वातावरण से विकल
संत्रस्त–मर्माहत और विफल :
समेट लो तुम अपनी विभूति की
वीभत्स भयंकर काया :
समेट लो तुम अपनी विषाक्त
घृणित कागपंखी कलंकी माया :

और तुम जीने दो हमें
स्वच्छंदता से साँस लेने दो हमें :
और तुम पीने दो हमें–
मुक्त मौक्तिक अनाविल धूप :
और बदलने दो दुष्ट दुरंगी दुनिया।

25–1–1960

क्षणिकाएँ[1]

(1)

हम रुचिर रंगीन किरनों के दिए हैं,
बुझ न पाए हम सितारों में जिए हैं

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

(2)

अब नहीं है आग को अपनी खबर,
जल रही थी सो गई पिछले पहर

(3)

प्रेम से गहरी बहुत गहरी व्यथा है
डूबने के बाद कोई पा सका है

(4)

जो लहर का है किनारा वही नहीं अपना किनारा,
छू न पाए जो लहर तक है वही अपना किनारा

27–1–1960

अनदुही गायें[1]

असंख्य हैं जो हमारी
अजान अनन्त दिशाओं की
अनदुही गाएँ
थनों में दूध–भरे,
पुकारती हैं सवात्सल्य हमें
कराल काल के अपार पठारों में
चरती हुई :
कि हम दुहलें उनको
पान करलें उनका धारोष्ण दूध।
हम बनें उनके स्वामी!
हम हैं इतने बहरे कि
सुनते ही नहीं हम।

11–2–1960

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

काल ही हमसे हारा[1]

अनस्तित्व का हमें भय नहीं!
न अस्तित्व के क्षय की हमें संभावना!!
निर्बाध हम बढ़े हैं आगे–
निर्बाध हम बढ़ते रहेंगे आगे।
नहीं गया है जहाँ कोई–
वहाँ पहुँचेंगे आगे
असंख्य उपलब्धियों को पाया है हमने
और भी अब
प्राप्त करते रहेंगे आगे
कौन है वह जिसने हमें रोका
कौन है वह जो हमें रोकेगा आगे
कौन है वह जो हमसे हारा
हम तो नहीं काल-हारे
काल ही हमसे हारा

25–2–1960

हम हैं मनुष्य[2]

हम हैं मनुष्य
पीड़ित प्यार के पीड़ित मनुष्य
पीड़ित प्यार को देकर
पीड़ित प्यार के पाने वाले मनुष्य

हम हैं मनुष्य
खंडित आत्मा के खंडित मनुष्य
खंडित आत्मा को देकर
खंडित आत्मा को पाने वाले मनुष्य

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

हम हैं मनुष्य
क्रंदित पुकार के क्रंदित मनुष्य
क्रंदित पुकार को देकर
क्रंदित पुकार के पाने वाले मनुष्य

हम हैं मनुष्य
अपूर्ण मनुष्यता में भी
पूर्ण शोभनीय
धूल धूसरित काया में भी
पूर्ण मोहनीय

25–2–1960

दुस्साहस कर सकता हूँ[1]

दुस्साहस कर सकता हूँ
इन्द्र का घोड़ा चुराकर यहाँ लाने का
अभी इसी क्षण
यदि तुम घोड़े पर सवार होकर
मेरे साथ उड़ चलने के लिए उद्यत होओ

दु:साहस कर सकता हूँ
काल के कुठार को खडित करने का
अभी इसी क्षण
यदि तुम कुठार के खंडित होने पर
मेरे साथ कमल वन में
विहार करने के लिए उद्यत होओ।

दु:साहस कर सकता हूँ
सागर को जा रही नदियों को
मोड़कर लाने का

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

अभी इसी क्षण
यदि तुम उन नदियों के यौवन से
मेरे ऊपर उमड़ पड़ने के लिए उद्यत होओ।

1–3–1960

हम[1]

तरंगाघात से
फेंक दिए गए हम
किंकर्तव्यविमूढ़
तट पर छोड़ दिए गये हम
अब जिएँ तो कैसे?
रेत में फँस गए हैं हम
डाह से डस गए हैं हम।

2–6–1960

जन्म नए मनुज का[2]

सम्भोग की मुद्रा में
एक से एक सटे
नग्न खड़े हैं
नर और नारी
खुलेआम
जन्म देंगे यही कल
नए सूर्य को,
नए मनुज को।

30–9–1960, लाविये : पिकासो का चित्र

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

अंधकार और प्रकाश[1]

अंधकार में नहीं रहता है भेद
सब हो जाते हैं एक
प्रकाश में रहता है सबमें भेद
सब हो जाते हैं अनेक
फिर भी अंधकार है नहीं अच्छा
अच्छा है तो बस प्रकाश
अंधकार है मृत्यु
प्रकाश है जीवन

30–9–1960

मिट्टी को सोना कर देगा[2]

ढलता चाँद
सिमटती चाँदी
रात गए की यह बरबादी
सूरज को देगी आजादी
जो चमकेगा
मिट्टी को सोना कर देगा
सुख भर देगा

30–9–1960

विश्वास[2]

विश्वास हो गया है विध्वंस
बड़े बट वृक्ष की तरह :
हम हो गए हैं विफल

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

भूगर्भ में गड़े ठूँठ की तरह :
अब पावस उमड़े घनघोर
या वसन्त छाए चहुँओर,
हम हो गए हैं संसार से विरक्त
प्रेत की तरह।

30-9-1960

पहाड़[1]

कर्त्तव्य की तरह गुरुतर कठोर
एकाकी और आत्मलीन-चट्टानी
अन्तरिक्ष तक अछोर
फैला है यह पहाड़
ब्रह्म में लीन जैसे-
शिव की संपादिका संज्ञा
जिसे आएगी वरण करने
समर्पित चेतना
रात्रि वसन्त की सुगंधित
विवसना पार्वती

5-10-1960

आओ बच्चन! गाओ बच्चन!![2]

आओ बच्चन!
अंधकार की परत कटी है;
वन-फूलों के कुंद-हार में-
आओ बच्चन!
शरद-हास के हंस उड़े हैं-

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

पंख पसारे-छवि-विहार में
आओ बच्चन!
केन नदी बहती है मंथर
अपनी मंथर छंद-धार में
आओ बच्चन!
परुष प्रान्त के पाषाणों को
तोड़ कम्प से, मधुर प्यार में
गाओ बच्चन!!

8-10-1960

(बच्चन के बाँदा आने पर-उनके 'संगीत कला-निकेतन' के उद्घाटन के अवसर पर लिखित)

अंधकार की जवान बेटी[1]

तुम हो
अंधकार की जवान बेटी
प्रकाश पर मरने वाली
सुन्दरी।

11-10-1960

नदी[2]

नदी है
कि नितम्बिनी वीणा
तट पर भी
कभी बजती-कभी मौन

12-10-1960

1, 2. शीर्षक संपादक द्वारा

लालटेन[1]

मनुष्य के साथ गई,
हाथ में लटकी लालटेन।
बीहड़ वन,
पहाड़ में,
मद्धिम रोशनी करने,
घुप्प अँधेरा
हरने;
सूर्य के आने तक वहाँ रहने,
और, फिर
टीन के तन में
काँच चढ़ाए,
शाम तक
सोने
मौन-मना

13-10-1960

वेगवती नदी[2]

दौड़ती
चिल्लाती
चली जाती है
घर से
निकाली गई नदी
दिगन्त के पार
मायके में
रहने।

13-10-1960

1,2.शीर्षक संपादक द्वारा

मौन[1]

दीर्घ मौन
सदियों से बैठा है बाहर ही
घर में जड़े ताला
जड़ीभूत
गुमसुम, निस्पंद

13–10–1960

गरीब के दिल का दिया[2]

ग़रीब के दिल का दिया
जीने को जिया
लेकिन अल्प दिन
आह ने बुझा दिया।

13–10–1960

हम बहते हैं[3]

पानी नहीं बहता,
हम बहते हैं
तुम्हारे पोत के नीचे
ऊपर उठाए तुम्हें
पार पहुँचाने के लिए।

धन्यवाद दो हमें,
जहाजी!
कैप्टन को नहीं।

13–10–1960

1,2,3.शीर्षक संपादक द्वारा

यह सफेद दिन[1]

यह सफेद दिन
यह मलमल का कुरता–
साफ, धुला,
जो लोहा किया हुआ है–
मैंने पहना गया नगर में!
घूमा, फिरा
धूल भी खाई,
लौटा, आया, बैठा
मैंने अपना काम किया।

यह सफेद दिन
यह मलमल का कुरता
–अपना पहना–
दिन डूबे के बाद रात में
टाँग दिया मैंने खूँटी पर,
मैला।

13–10–1960

प्रभात की पहली किरन[2]

आज जब वह निकली
फाग खेलती
प्रभात की पहली किरन
तब किसे नहीं रंग गई
उसकी रंगीन चितवन।
क्या पेड़
क्या पानी
क्या मेरु

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

क्या मैं
कोई तो नहीं बचा।
जिसको उसने नहीं रँगा।

19–10–1960

नदी शारदीया अलबेली[1]

हंसगामिनी नावों के
दृढ़ पंख समेटे,
निर्जन में लेटी नितम्ब पर,
दूर नगर से,
नदी शारदीया अलबेली
जल के ओठों से गाती है
अस्फुट स्वर में
मधुर–मधुर चाँदनी रात की
मंद रागिनी!!

19–10–1960

कमल पत्र पर जले के मोती[2]

कमल पत्र पर जल के मोती
पुष्करिणी की भेंट यही है रवि को
कमल तोड़ ले गया प्रथम ही प्रेमी कोई
मुग्ध प्रिया को देने।

20–10–1960

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा

पत्थर के अन्दर कोई बैठा है जरूर[1]

कराहता नहीं तो क्या
पत्थर के अन्दर कोई बैठा है जरूर,
मौन साधे गुमसुम,
प्रकट हो वह तो चैन मिले मन को।

21–10–1960

सूर्यास्त का रंगीन रोमानी समारोह[2]

सुन्दर है यह सूर्यास्त का
रंगीन–रोमानी समारोह,
कि महल बन गए हैं इसके,
केन के भीतर जल में अपने आप,
इसी के अनुरूप
कि मुग्ध हूँ मैं इन्हें देख–देखकर।

21–10–1960

छातियों में दूध—नेह नैन में भरे[3]

मैं हूँ सन का बड़ा खेत, मुझे देखो
कठोर भूमि पर एक बीघे में खड़ा
तुम्हारी ऊँचाई भर–कण्ठ तक हरा
चौड़े माथे पर लगाए शुभ टीके
केसर के बड़े–बड़े प्रदीप्ति टीके।
पीठ पीछे आसमान–हल्का नीला,
ऊपर तक खाली पड़ा सूर्य के बिना
अगल–बगल, सामने, चौतरफा नीचे

1,2,3. शीर्षक संपादक द्वारा

कहीं कुछ जुत रहीं कुछ जुआर से हरी,
पथ की धूलि से भारी है भरी भूमि।
पश्चिम में लटक गए सूर्य का सोना
दूर लेटी केन पर अब तक धरा है।
चिड़ियों के एक-दो गोल आए-गए।
यक्षगण जैसे गेह को उड़ते गए
पास से निकल गई कठेठी औरतें
गायों सी रँभाती हुई, थकी-माँदी,
छातियों में दूध-नेह नैन में भरे,
करबी का भारी बोझ मूँड़ पर धरे।

21-10-1960

दीपक[1]

खुद नहीं जलता,
जलाया जाता है उसे,
आग से, रात के समय,
ज्योति के लिए-
दृष्टि के लिए।

21-10-1960

अनाज चुगते-चुगते[2]

अनाज चुगते-चुगते
जाल में फँस गया-
भूख का मारा, कपोत;
राम जाने क्या होगा कबूतरी का-
बच्चों का?
तिनकों के नीड़ का?

1,2. शीर्षक संपादक द्वारा।

गाना गाते-गाते
काँप में फँस गई
गीत की माती बुलबुल;
राम जाने क्या होगा बुलबुल का?
बच्चों का?
तिनकों के नीड़ का?

21-10-1960

सुबह आई फूल को चूमने[1]

रात ने डौंड़ी पीटी
फूल के जन्म की,
सुबह आई
फूल को चूमने,
रात ने मोती छींटे-
स्वप्न आ गया
हार गूँथने-

21-10-1960

आलोक-सोमरस[2]

जब विदित होता है
अविदित आलोक,
वसन्त में
फूलों से निकला,
तब मैं पीता हूँ प्रमुदित
वह आलोक,
रंगीन-

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

तरल–
सोमरस,
सूर्य के साथ,
वायु के साथ,
तुम्हारे साथ।

21–10–1960

प्रगति[1]

हम पवन की दौड़ से भी
दौड़ गए अधिक आगे
परम्पराओं को छोड़ गए
बहुत पीछे,
परिधियों को रौंद गए
पाँव के नीचे

1–11–1960

नदी[2]

श्वेत केश की तरह
भूमि पर पड़ी नदी
बूढ़ी नहीं जवान है
मेघ और पृथ्वी की
यह सन्तान है।

5–11–1960

---

1. शीर्षक संपादक द्वारा

स्वर्ण किरण से

जहाँ कोई नहीं आया
वहाँ आओ काल की गहराइयों में,
नृत्य करने–प्यार बारम्बार करने।

जहाँ कोई नहीं आया
वहाँ आओ घुप्प अंधी घाटियों में,
ज्योति झरने–प्यार की झंकार भरने।
जहाँ कोई नहीं आया
वहाँ आओ दर्द की अँगड़ाइयों में,
प्राण भरने–प्यार करने।

21–11–1960

(बड़े मुन्ना की कविता के आधार पर)

वसन्त के इस रंगीन महोत्सव में[1]

फूल के कटोरे में भरा भौंरों का गुंजार
पहाड़ से निकल आए हरेक पेड़ के हाथ से छलका
मनुष्य ने उसे अपनी अंजलियों में लिया और पिया
वसन्त के इस रंगीन महोत्सव में वह मदांध हुआ
और जिया
बाहु–पाश में बाँधे प्रकृति की परम सुन्दरी प्रिया!

1960

❐ ❐

1. शीर्षक संपादक द्वारा

केदारनाथ अग्रवाल
का
रचना-संसार